“साधुवेश में एक पथिक”

(संक्षिप्त परिचय)

गंगा-यमुना से घिरी मध्य भूमि, सगुणावतारों की पावन भूमि, उत्तर प्रदेश में फतेहपुर जिले के बकेवर ग्राम में आपका जन्म 15 जनवरी सन् 1909 ई० को पवित्र ब्राह्मणकुल में हुआ। पिता की मृत्यु के बाद आपका पालन-पोषण ननिहाल साढ़ (जिला कानपुर) में हुआ। बचपन से ही देवी-देवताओं में आपका विश्वास था। आप ग्राम के बाहर भूधरा खोदकर तप करने लगे। कुछ समय बाद ही आपने सुदीर्घ जीवी अवधूत स्वभाव वाले योगिराज नागा बाबा का शिष्यत्व ग्रहण कर गृह-त्याग किया। नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर सत्य की खोज में ही आपने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया। सदाचार की प्रेरणा देना और आध्यात्मिक जागरण लाना ही आपके जीवन का उद्देश्य रहा। मधुर कंठ एवं प्रांजल लेखनी से पारमार्थिक काव्य और आध्यात्मिक साहित्य के सृजन एवं गायन द्वारा दिग्भ्रमित जनता को कल्याण का मार्ग दिखाते रहे। आपका जीवन इतना पवित्र रहा कि आपके सान्निध्य में जनता शान्ति और आनन्द का अनुभव करती रही। आपने अपने जीवन काल में कोई मठ-मन्दिर न बनवाकर, स्वतंत्र विचरण करते हुए ‘पथिक’ नाम चरितार्थ किया। सेवा-त्याग-प्रेम ही आपका मूलमंत्र है। सद्विवेक, सद्व्यवहार और सत्प्रेम ही आपके जीवन-दर्शन के त्रि-रत्न हैं। विनाशी जीवन की आसक्ति को छोड़कर अविनाशी जीवन की खोज के प्रेरणा देते आप थके नहीं 10 जून, 1997 को हरिद्वार में आपने अपना शरीर त्याग दिया।

प्रस्तुति : डा० अर्चना गुप्ता (रानी)

यह भी समझो

साधु वेष में एक ‘पथिक’

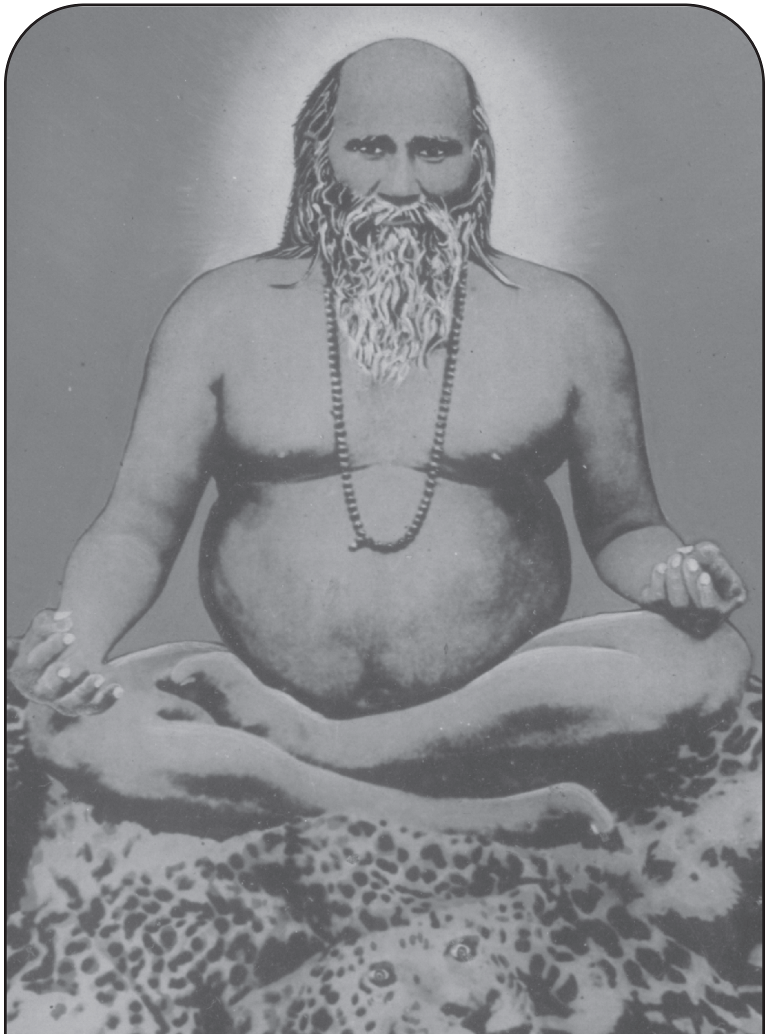

ब्रह्मलीन संत सिद्ध श्री श्री नागा निरंकारी जी महाराज

अवतरण- (मुस्लिम यवन) शासन काल 1 तिथि व स्थान अज्ञात

महानिर्वाण - तिथि कार्तिक शुक्ल 14 दिन मृत्युवार वि० सम्वत 1993

तदनुसार 27 .11. 1936

समाधि स्थल - ग्राम छोटी पाली जनपद कानपुर नगर, उत्तर प्रदेश

पुस्तक प्राप्ति का पता

डा० जे० एल० सूरी
डा० ताराचन्द क्लीनिक
28 विधान सभा मार्ग
निकट बार्लिंगटन चौराहा, लखन
मो. : 9415062640
फोन : 0522-4048520

✦✦✦✦✦✦✦✦

डा० स्वामी अखिलेन्द्र
बंगाली टोला, बेलन बाजार
मुंगेर बिहार
फोन : 06344-222232

✦✦✦✦✦✦✦✦

स्वामी नानानन्द
संत पथिक साधना आश्रम
हरिपुर, रायवाला, हरिद्वार उ ारांचल
फोन : 0135-2485725

✦✦✦✦✦✦✦✦

अवधेश नारायण अग्रवाल
अग्रवाल गिफ्ट गैलरी
चौक, बहराइच उ० प्र०
फोन : 05252-237977
मो. : 9336881137

यह भी समझो

लेखक

साधु वेश में एक पथिक

प्रकाशक :
इंजीनियर रजनीश लखनऊ

प्रथम संस्करण : संवत् २०१३ विक्रम

संशोधित पंचम संस्करण : सन् 2009 ईसवी
संवत् २०६६ विक्रम

लागत मूल्य : रु. **15.00**

मुद्रक : क्रियेटिव प्वाइंट एफ. 25 जैहिन्द काम्प्लेक्स,
बी. एन. रोड, कैसरबाग, लखनऊ फोन : 0522-3012827

।। श्री सरस्वत्यै नमः ।।

यह भी समझो

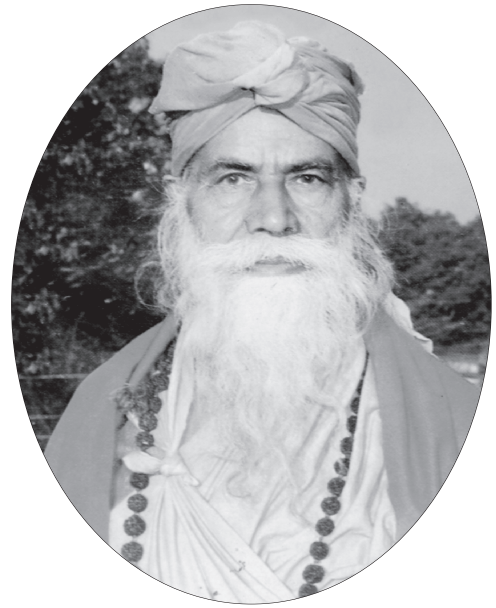

लेखक

साधु वेष में एक पथिक

(पद्य)

1.	इस जगत में कोई-कोई बड़े वीर निकले	18
2.	उठो मानव आँख खोलो सो चुके हो	25
3.	शुभ अवसर है तो यह है जो चाहो लाभ उठाओ	26
4.	इस जग में जो कुछ करना है तुम बुद्धिपूर्वक जान लो	30
5.	कल्याण दुखी जीवन का यह भगवान	40
6.	सदा जो सुसंगति में आते रहेंगे	46
7.	किसी बहाने प्रीतिपूर्वक जब उसका आह्वान होता।।	63
8.	इस जग में कितना ही तुम स्वच्छन्द विचार कर देख लो	72
9.	कितना ही जग में सुख पायें, कितने ही हम पर दुख आयें	78
10.	जहाँ सुलभ सत्य संग अहं निरभिमान है	88

विषय-सूची

(गद्य)

1.	कर्तव्य और साधनामय जीवन	1
2.	शिक्षित विद्वानों का कर्तव्य	2
3.	सद्ग्रहस्थ का कर्तव्य	8
4.	समस्त कर्म यज्ञ-भाव से करना कर्तव्य है	13
5.	कर्तव्य प्रेमी और अभिमान	14
6.	सुखकर और हितकर	19
7.	कर्तव्य की पूर्णता त्याग तप से होती है	21
8.	सहज कर्म	25
9.	वास्तविक जीवन और लाभ	26
10.	कर्तव्य परायण की दैवी सम्पत्ति	27
11.	कर्तव्य विमुख की आसुरी सम्पत्ति	27
12.	नेताओं के लिए	28
13.	विवेक के प्रकाश में	31
14.	कर्म	40
15.	संग का प्रभाव	46
16.	सेवा की सामग्री	49
17.	परमार्थी का कर्तव्य	50
18.	आत्म दर्शन	55
19.	परिशिष्ट	59

ॐ

कर्तव्य और साधनामय जीवन

संसार से पूर्ण निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना, किसी से कोई सुख न चाहना, आध्यात्मिक उन्नति का श्रेष्ठ साधन है।

जो कुछ जीवन में मिला है, उसका सदुपयोग ही सद्‌गति का साधन है।

वासनाओं, कामनाओं अथवा इच्छाओं का त्याग, शान्ति-प्राप्ति का साधन है। मन से सभी सम्बन्धों तथा चिन्ताओं और दोषों का त्याग निःसंकल्प होने का साधन है।

निस्संल्पता, निस्पृहता, सिद्धि का तथा ज्ञान का साधन है।

अभीष्ट की सिद्धि के लिए दय और मस्तिष्क की एकता होने पर मनुष्य का यह जीवन ही साधन है। त्याग और प्रेम ही, राग तथा द्वेष की निवृ ि का साधन है। किसी वस्तु को अपना न मानो, जो कुछ दूसरों के पास है उसकी इच्छा न करो, अपने आप में सन्तुष्ट रहो, यही संसार से मुक्ति पाने का साधन है।

निष्काम कर्म ही तृप्ति का साधन है।

सेवा करना सुखी जीवन की उन्नति का साधन है, विरक्त हो जाना अथवा दोषों का त्याग करना दुखी जीवन की उन्नति का साधन है।

स्वकर्तव्य तथा स्वधर्म पालन एवं सेवा करते हुए प्रतिकूलताओं कष्टों का सहन करना रूपी तप ही शक्ति सम्वृद्धि का साधन है।

प्रेम पात्र को सर्व भावेन दय से अपना मानना ही प्रीति वृद्धि का साधन है।

सर्व संग से अपने को अलग करके देखना स्वरूप अनुभव का साधन है।

संसार से सुख की आशा न करो, अपने सुख के लिए किसी को दुख न दो, मिले हुए सुख का अभिमान न करो, उसे दुखियों की सेवा में लगा दो– यही संसार से उऋण होने का साधन है।

किसी से बैर न रक्खो, किसी में आसक्त होकर न रहो, देह को अपना रूप न समझो, देह को अपनी न मानो, यही निर्भय होने का साधन है।

अपने में ही अपने प्रियतम प्रभु की स्थापना करके सब कुछ उन्हीं के अर्पण कर दो, उन्हें कभी कहीं न भूलो और अपने परम हितकारी होने का विश्वास रक्खो– यही चिन्ता मुक्त होने का साधन है।

संसार की किसी वस्तु तथा व्यक्ति अपनी प्रसन्नता निर्भर न रक्खो– यही दीनता मिटाने का साधन है।

संसार में कुछ भी अपना न मानो यही अभिमान आदि दोष मिटाने का

साधन है।

सुख का लालच, दुःख का भय मन से निकाल दो, यह भगवद् भजन के प्रति– प्रीतिवृद्धि का साधन है।

परमात्मा के साथ स्वरूप से एकता की निरन्तन अनुभूति अर्थात जीवात्मा की परमात्मा में एकात्म भाव से स्थिति दृढ़ होना ही साधन की सिद्धि है।

जीवन ही मनुष्य का सबसे बड़ा शिक्षक है और विवेक ही सबसे बड़ा गुरु है, वही आत्मा का व्यक्त रूप है और आत्मा ही परमात्मा का प्रकृति प्रकाशक चैतन्य है।

जिस प्रकार अपने स्वरूप में देह जाति कुल रूप वर्ण उपाधि आदि जड़ वस्तुओं की स्थापना करके अपने को तद्रूप उसी रूप वाला जड़ के अभिमानी बने हुए हो उसी प्रकार अपने स्वरूप में सत चित् आनंद मय परम शिव तत्व की स्थापना करके अपने को तद्रूप बना लेना अर्थात् असत संगाभिमान से मुक्त होने के लिए सच्चिदानन्द स्वरूप की संगानुभूति दृढ़ कर लेना तुम्हारा सर्वोत्तम कर्तव्य है।

तुम दूसरों को निर्मोही, निर्लोभी, निरभिमानी, निष्काम बनाने में स्वतन्त्र नहीं हो, इसलिए दूसरों को दोषरहित बना देना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है किन्तु स्वयं को लोभ रहित, मोह रहित, अभिमान रहित निष्काम बना लेने के लिये तुम स्वतन्त्र हो, अतः यही तुम्हारा कर्तव्य है।

शिक्षित विद्वानों का कर्तव्य

मनुष्य की विद्या तथा उसका ज्ञान तभी सार्थक है, जब वह सत्यं शिवं सुन्दरम के योग का साधन बन जाय।

स्थायी शान्ति, धैर्य, गम्भीरता यह विद्वानों के लक्षण हैं। जो विद्वान विवेक के अनुसार ही सब कर्म करता है, वही गुरु बन जाता है। चाहे कितना ही कोई श्रम करने वाला हो, बड़े-बड़े काम करने वाला हो, यदि उसमें विवेक-बल नहीं है तो कर्म अन्धा ही रहेगा। विद्याध्ययनसे विवेक बढ़ाते जाना चाहिये। विवेकहीन जीवन को ज्ञानी महापुरुष मानव-जीवन नहीं कहते।

जहाँ केवल भोग की ही रुचि प्रबल रहती है, वहीं पशु-प्रकृति की प्रधानता है। जहाँ ज्ञान, विवेक प्राप्ति की रुचि है, वहीं मानवता की जाग्रति समझनी चाहिये।

जीवन के दैवी अंश को त्याग में, दान में, आनन्द का अनुभव होता है; किन्तु आसुरी अंश को संग्रह में, ग्रहण में, भोग में सुख प्रतीत होता है।

जो संग्रह करता है, दान नहीं करता, वह दैवी विधान के सामने अपराधी है।

मूखो को अपने माने हुए स्वर्ग में मौज उड़ाने दो परन्तु दूरदर्शी दृष्टि रखने वालों ! तुम देह तक ही न देखो, आत्मा तक देखो, तुम जगत को ही न देखो जगदाधार प्रभु को देखो।

अच्छे शिक्षित, बुद्धिमान व्यक्ति वही हैं जो सत्य के लिये कर्तव्य-परायण होते हैं।

कर्तव्य-परायण व्यक्ति आवश्यक संकल्पों की पूर्ति करते हैं, अनावश्यक अशुभ संकल्पों का त्याग करते हैं; क्योंकि उनमें इतनी सावधानी आ जाती है– वे कहीं भी प्राप्त शक्ति का अनावश्यक अशुभ कायो में दुरुपयोग नहीं करते।

आवश्यक संकल्प उसे ही समझना चाहिये, जो वर्तमान में पूरा हो सकता हो जिसकी पूर्ति के साधन सुलभ हों, साथ ही जिसकी पूर्ति से किसी का अहित न हो।

जीवन के चार कर्तव्य मुख्य हैं, जिनके पूर्ण होने पर मानव-जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है :–

पहला कर्तव्य है, प्रत्येक कर्म के पीछे गुणों का विकास। दूसरा कर्तव्य है, सुनिश्चित मर्यादा के भीतर कामनाओं की पूर्ति। तीसरा कर्तव्य है, प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति एवं सुखी जीवन के द्वारा दूसरों की सेवा। चौथा कर्तव्य है अन्त में सांसारिक देह, गेहादिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के संग से उत्पन्न हुई अहंता, ममता का त्याग अथवा मन से माने हुए सम्बन्ध का त्याग।

आलस्य और असंयम के कारण अनेकों समझने की योग्यता रखने वाले कर्तव्य-पालन से विमुख-रहते हैं।

जिस समय जो करना चाहिये, उसके विपरीत करना ही कर्तव्य-विमुख होना है।

कर्तव्य-विमुख व्यक्ति चरित्रहीन होता है। विषयासक्ति, स्वार्थ-पूर्ति में कुशलता, देह-रक्षा की चिन्ता, लोभ, मोह, अभिमान की प्रबलता यह सब दोष चरित्रहीन व्यक्ति में ही होते हैं।

कर्तव्य-पालन में तत्पर रहने वाले बुद्धिमान सदा अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हैं, अपने आप आने वाले कर्तव्य को कुशलता पूर्वक निभाते हैं और अपने भाव को कभी लोभ से, अभिमान से, ोध, ईर्ष्या, द्वेष से दूषित नहीं होने देते।

कर्तव्य-परायण व्यक्ति द्वेष को प्रेम से, अन्याय को न्याय से, स्वार्थ-भाव को सेवा से जीत लेता है।

राग-द्वेष युक्त जीवन आसुरी जीवन है।

सहज स्नेह और सेवाभाव से संयुक्त जीवन मानवी जीवन है।

त्याग और प्रेम से समुज्ज्वल जीवन दैवी जीवन है। भोग सुखों की चाह का त्याग कर देने से जीवन स्वाधीन हो जाता है।

जो दोषों का त्यागी नहीं, दैवी गुणों का प्रेमी नहीं, वही दीनता और अभिमान के ताप से तपता रहता है।

अपने भीतर दोषों के ज्ञान से अथवा विषय भोगों से विराग होने पर जाग्रति होती है।

गुणों के अभिमान से प्रमाद बढ़ता है।

दूसरों को देखकर उसे ही गुणी मानने से मोह बढ़ता है।

जहाँ कहीं दोष हैं वह व्यक्ति के हैं और जहाँ कहीं, सदगुणों का सौन्दर्य है, वह व्यापक परमात्मा का ही समझने से सत्यानुराग की वृद्धि होती है।

विवेक युक्त प्रवृ ि से पशु प्रकृति, आसुरी प्रकृति का दमन होता है, मानवता परिपुष्ट होती है।

सेवा और तप की पूर्णता से मानव जीवन में पवित्रता और शक्ति सम्पन्नता आती है।

त्याग और ज्ञान की पूर्णता से जीवन में दिव्यता आती है।

प्रेम एवं भक्ति की पूर्णता से जीवन आनन्दमय हो जाता है।

उत्कृष्ट ँचे भोग सुखों की प्राप्ति उसे ही होती है, जो उनके लिये जीवन को सा ान बनाता है, उसी प्रकार योग की सिद्धि भी उसे ही मिलती है,जब उसके लिये जीवन ही साधन बन जाता है। जो लोग साधन को घन्टे दो घन्टे के लिये पकड़ते हैं वे साधन नहीं करते, कोई शुभ कर्म कर लेते हैं।

यह संत की अनुभूति है कि परमार्थ सिद्धि चाहने वाले यदि राग का बन्धन तोड़ना चाहते हैं तो त्याग करें। द्वेष को मिटाना चाहते हैं तो प्रेम करें।विषय-चिन्तनक ोह टानाच ाहतेह ैंत ोभ ागवानक ाचिन्तनक रें। स्वार्थ-भाव को छोड़ना चाहते हैं तो सेवा करें। ''मैं'' ''मेरा'' के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं तो वह ''तू ही तू तेरा ही तेरा'' के भान में डूब जायें। देहाभिमान को दूर करने के लिये आत्मज्ञानी बनें।

जो रागी हैं और द्वेषी हैं उससे अनेकों अपराध होंगे।

जो त्यागी और प्रेमी हैं उससे अनेकों पुण्य होंगे।

जो दूसरे को दु:ख देगा वह कभी न कभ ीदु:ख पायेगा।

जो दूसरों को सुख देगा, वह कभी न कभी सुख पायेगा।

जो कोई जितने अधिक लोगों की सेवा करेगा उतने ही अधिक लोगों से सेवा, आदर, मान पायेगा।

हाथ-पैर, आँख, कान आदि इन्द्रियों के अतिरिक्त यदि तुम्हें कुछ भी बुद्धि मिली है तो विद्वान बनो; और जो कुछ कर्म करो, वह विचार पूर्वक विधि सहित करो।

जाति, वर्ण, संस्कार के अनुसार कर्म करने का अभ्यास पशु में भी देखा जाता है; परन्तु प्रत्येक कर्म विचार पूर्वक करने का सौभाग्य जिसे प्राप्त है, उसे ही बुद्धिमान मनुष्य कहते हैं।

उठने में, बैठने में, किसी से वार्ता करने में तथा किसी की सुनने में, कुछ लेने में या देने में शरीर, वाणी मन से होने वाले प्रत्येक कर्म में सुविधि का ध्यान रक्खो। विधि विपरीत कर्म करने से ही अपयश, हानि, कलेश आदि अनेकों प्रकार के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। परमेश्वर से मिली हुई शक्ति का उपयोग करने वाले पाठकों ! अपने जीवन में यदि शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहते हो, अपनी उन्नति चाहते हो तो अपनी इच्छाओं अर्थात् कामनाओं से सावधान रहो।

इच्छायें दो प्रकार की होती हैं, एक आवश्यकतानुसार इच्छा होती है, दूसरी किसी को देख कर या सुन कर इच्छा होती है। कुछ इच्छायें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध   दय से होता है; और कुछ इच्छाओं का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। जिस चाह का सम्बन्ध   दय से है, वह चाह शीघ्र पूरी होती है, साथ ही हार्दिक इच्छा की पूर्ति में त्याग करना, दान करना, तप करना आसान होता है; किन्तु जिस इच्छा का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है, जो सुन कर या किसी दृश्य के आधार पर होती है, वह देर में पूर्ण होती है, उसके लिये त्याग, दान, तप में कठिनता प्रतीत होती है। सच्ची चाह वही है, जो अपनी पूर्ति के बिना कहीं चैन न लेने दे।

एक विद्यार्थी कहे कि मैं विद्याध्ययन करके उच्च कोटि का विद्वान बनना चाहता हूँ किन्तु वह खेल में समय व्यतीत करे, किसी पदाधिकार के लिये दौड़ता फिरे या किसी प्रिय के वियोग में व्याकुल रहे तो निश्चित है कि वह विद्वान होने की सच्ची चाह नहीं रखता।

एक ग्रहस्थ कहे कि मैं धनोपार्जन करके उत्कृष्ट भोग और दान करना चाहता हूँ किन्तु वह आलस्य वश परिश्रम से जी चुराये, न्याय के साथ योग्यता पूर्वक कोई कार्य न करे तो निश्चित है कि उसके मन में धनोपार्जन की चाह प्रबल नहीं है।

एक ग्रहस्थ वृद्धावस्था के आरम्भ होते ही अथवा भोगों की ग्रहण-शक्ति क्षीण होने पर यह कहे कि ''अब मैं सन्यास आश्रम में प्रवेश करके अपने जीवन को बन्धन मुक्त बना कर भोग वासनाओं का त्याग कर परमेश्वर की भक्ति चाहता हूँ''; किन्तु वह पत्नी पुत्र आदि परिवार के मोहवश घर न छोड़ सके, भरण-पोषण की चिन्ता में, साधन, भजन, त्याग, विराग की बात

को आगे टालता चला जाय तो निश्चित है कि वह अभी बंधन से मुक्ति तथा भगवत भक्ति नहीं चाहता। मनुष्य चाहता उसे ही है, जिसका त्याग नहीं कर पाता।

जब सुन्दर वस्त्रों की चाह होती है, आभूषणों की चाह होती है, सुन्दर भवन की, कोठी की, बंगले की, मोटर की चाह होती है। किसी उपाधि के अधिकार की चाह होती है, तो लोग इन चाहों की पूर्ति के लिए सैकड़ों, हजारों, लाखों रुपये खर्च कर देते हैं; — बल्कि कभी-कभी तो धन की चाह में मान और भोग की चाह में जो कुछ भी करना चाहिए। वह भी चाह की पूर्ति होने के लिए कर डालते हैं। केवल भगवदभक्ति की तथा मुक्ति एवं शांति की चाह पूरी करने के लिए लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषों का त्याग नहीं कर पाते इसलिए— कि चाहते नहीं।

चाह के रहते हुए, जिससे चाह की पूर्ति होती है उसके ही जीव आधीन रहता है।

विषयोपोभोग की इच्छा रहते, आसक्त जीवन रहता है। विषयोपभोग से अरुचि होने पर विरक्त जीवन होता है।

सब प्रकार चाहों से मुक्त होना जीवन का सदुपयोग है।

इच्छाओं की पूर्ति में परम तृप्ति अथवा शान्ति की आशा करना जीवन का दुरुपयोग है।

शारीरिक उन्नति के लिये संयम सदाचार आवश्यक है। मानसिक उन्नति के लिये प्रीतिपूर्वक सेवा आवश्यक है। आत्मिक उन्नति के लिये विवेक पूर्वक त्याग आवश्यक है।

आत्मा में सभी प्रकार की शक्तियाँ छिपी है, तुम उनका इतना विकास कर लो कि किसी दूसरे का सहारा लेने की आवश्यकता ही न रहे।

विरक्त सन्त की सुसंगति से, सद्विचार से, संयम से, आत्मा की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

जिसे अपना मानोगे उसी से प्रीति होगी।

जिसे अपना न मानोगे उसी से सम्बन्ध टूट जायगा।

अपने को जिसके आगे समर्पित कर दोगे, उसी के भक्त बनोगे।

इन् यों पर तथा मन पर जितना ही अधिक संयम करोगे उतनी अधिक शक्ति बढ़ेगी।

जितना ही अधिक किसी विषय का भोग करोगे, उतना ही अधिक शक्ति घटेगी।

लोभ और कामना को छोड़कर जितनी अधिक सेवा करोगे, उतना ही जीवन शुद्ध होगा, मन निर्मल होगा।

किसी को दुख न देकर, निरपेक्ष रहकर जितना ही तुम प्रसन्न रहोगे,

उतना ही आनन्दमय प्रभु की निकटता अनुभव में आयेगी।

जितना ही तुम विकारों से दूर और प्रसन्न रहोगे, उतना ही आनन्दमय प्रभु की निकटता अनुभव में आयेगी।

जितना ही तुम विकारों से दूर और प्रसन्न रहोगे उतना ही तुम्हारा चित्त स्थिर होगा।

जो इन्द्रियों के वेगों को रोक नहीं पाता, वह सदा प्रसन्न नहीं रह सकता, जितेन्द्रिय पुरुष ही सदा प्रसन्न रह सकता है। जो अपना कर्तव्य पालन नहीं करता, वही सौभाग्यहीन है। जो दीनों-दुखियों के साथ दया युक्त व्यवहार करता है, वही सौभाग्यशाली है।

तुम निर्बलों की सेवा में बल का सदुपयोग करो, निर्धनों की सहायता में यथाशक्ति धन का सदुपयोग करो, यदि ऐसा न कर सके तो सूखे पूजा-पाठ, जप-कीर्तन करने से दैवी गुणों का विकास न होगा।

बल का दुरुपयोग करते हुए तुम दुर्बल न बनो। ध्यान रहे। दोषों का और दुष्टों का आ   मण दुर्बल पर ही होता है।

यदि तुम बल का तथा धन का उपयोग भोग में ही करते रहोगे तो देख लेना अनेकों दोषों की, दुर्बलताओं की ही वृद्धि होगी।

जो कुछ तुम सेवा में दान न करोगे, वह किसी दिन छिन जायगा। यदि करने योग्य कर्म को प्रसन्नतापूर्वक न करोगे तो हठात् तुम से करा लिया जायगा।

जो स्वेच्छा से कर्तव्य कर्म करता है, उसी को मानव कहते हैं, जो शासन में बँधकर करता है, उसे ही पशु-प्रकृति-प्रधान व्यक्ति कहते हैं।

जो त्याग करने योग्य है, उसका त्याग न करोगे तो रागी बन जाओगे। जो दान करने योग्य वस्तु का दान न करोगे तो लोभी बन जाओगे। यदि प्रेम करने योग्य प्रियतम को न जान कर अपने सुख के लिए किसी को चाहोगे तो अवश्य ही मोही बन जाओगे।

यदि मिली हुई देहादिक वस्तुओं को तथा शक्ति सम्पत्ति को परमेश्वर की न जानकर अपनी मानोगे तो निस्सन्देह अभिमानी बन जाओगे।

यदि द्वेष से छूटना है तो संसार में सभी को अपना मानकर सभी का भला चाहो।

यदिअ पनेद ोषद`खनाच ाहतेह ोत ोप रायेद ोषद`खनाछ ोड़द ो। दूसरों के दोष देखने से अपने में गुणों का अभिमान पुष्ट होता है।

जब तक राग-द्वेष, प्रमाद असावधानी युक्त कर्म होते रहेंगे, तब तक मन संकल्प रहित होकर शान्त न होगा।

सभी विकार मिटाना चाहते हो तो त्याग, प्रेम, सेवा में कोई कमी न रहने दो।

सेवा करने योग्य वही है जो अपने सामने किसी प्रकार से दुखी हो। जो रागी है, द्वेष से दूषित है, मोह से मूढ़ है, वही दुखी है।

प्रेम करने योग्य वही है, जिसको कभी नहीं छोड़ना है। त्याग करने योग्य वही है, जो दुखद है; जिसे अपने संग नहीं रखना है, जो अशुभ, अनावश्यक, अपवित्र है।

दान करने योग्य वही है, जो पवित्र है, अनूठा है, प्रिय है, हितकर है, सुखकर है।

दान का सुपात्र वही है, जो तपस्वी है, विद्वान है, यज्ञमय जीवन बिताने वाला है, शुभ कर्मी है, परमेश्वर का उपासक है। दान प्रायः आठ प्रकार का होता है :— अभय दान, मान दान, धन दान, कन्या दान, विद्या दान, भूमि दान, वस्तु दान, विचार दान। यही दान करना चाहिए।

सद्ग्रहस्थ का कर्तव्य

ब्र मचर्याश्रम में विशेष श्रम पूर्वक संयम में दृढ़ रह कर मन की रुचियों, कामनाओं को रोक कर बुद्धि में कर्तव्य धर्म का ज्ञान विवेक प्राप्त कर लेने पर जिन वासनाओं को ज्ञान से नहीं मिटा पाते उन्हें मर्यादा के भीतर भोगते हुए, उनसे निवृत्त होने के लिये विशेष श्रम करना यही गृहस्थाश्रम का रहस्य है।

मनोगत कामनाओं, वासनाओं की निवृत्ति के लिये ही गृहस्थाश्रम है।

गृहस्थ होने पर सर्वप्रथम धन प्राप्ति के लिये विशेष श्रम करना पड़ता है; क्योंकि जो धर्म पूर्वक धन प्राप्त करेगा, वह बिना श्रम के सम्भव नहीं। उस धन से मर्यादा के भीतर ही सीमित उपयोग करना गृहस्थ का धर्म होता है। इसके साथ ही अतिथि-सेवा, जीवों को अन्नदान, पित्रों को श्राद्ध तर्पण, देवताओं की तृप्ति के लिये हवन और आत्म-ज्ञान के लिये स्वाध्याय जप को विधिवत नियम से पूर्ण करने में श्रम करना यह भी गृहस्थ का कर्तव्य है।

मिली हुई योग्यता का सदुपयोग करना और अधिक योग्यता बढ़ाते रहने में प्रयत्नशील रहना, बुद्धिमान गृहस्थ में ही देखा जाता है।

संसार में उन्हीं के लिये स्थान है, उन्हीं के लिये आदर प्यार है जो सुखी हैं, शक्ति-सम्पन्न हैं, दुखी के लिये शक्तिहीन के लिए कुछ नहीं है। दुखी शक्तिहीन तो भगवान की ही शरण में सुखी हो सकता है। जिसने जो कुछ दिया है वही पा रहा है, चाहे सुख हो या दुख।

गृहस्थ के माने हैं घर में रहने वाला, वनस्थ के माने हैं वन में रहने वाला। यदि कोई घर में अपने शरीर को रहने दे पर अपने मन में घर न

रक्खे, कुटुम्ब में अपने मन को रक्खे पर मन में कुटुम्ब न रहने दे, इसी प्रकार बुद्धि को संसार में रक्खे पर बुद्धि में संसार न रहने दे, अहं को शरीर में रक्खे पर शरीर को अहं में न रहने दे तो ऐसा मानव घर में, परिवार में, संसार में और देह में रह कर परमेश्वर का प्रेमी तथा बन्धनों के दुखों से मुक्त हो सकता है।

प्रायः कुछ लोग यही प्रश्न किया करते हैं कि गृहस्थी में, परिवार में, संसार में रह कर भजन कैसे हो सकता है। उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि नाव यदि जल में रहे तो उसके द्वारा पार हुआ जा सकता है परन्तु जब नाव में ही जल भर जाय तब नैया डूब जाती है। इसी प्रकार जो गृह में, परिवार में, संसार में तथा देह में रहने की कला जान लेता है वह बन्धनों से, दुःखों से मुक्त तथा भगवान का भक्त हो सकता है; किन्तु जो गृह-परिवार, संसार तथा देह को अपने में रख लेता है वह न मुक्त होता है, न भक्त होता है।

जो उपभोग के द्वारा सांसारिक सुखों की असारता का, वस्तुओं के विनाश का, व्यक्तियों के सम्बन्ध विच्छेद का ज्ञान प्राप्त करता है, वही बुद्धिमान सद्गृहस्थ है।

लाखों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें यह ज्ञान ही नहीं है कि जीवन का लक्ष्य क्या है? ऐसे व्यक्ति धन के संग से लोभी, परिवार के संग से मोही, अधिकार के संग से अभिमानी तथा सुखद अनुकूल मान कर रागी और किसी को दुखद प्रतिकूल मानकर, द्वेषी, ोधी, निन्दक, अन्त में हिंसक बनकर आगे के लिये दुखद भोग तैयार कर लेते हैं।

जिन लोगों में विवेक नहीं होता वे अपना ही सुख, अपनी ही पूर्ति चाहते हैं। दूसरे को अपनी पूर्ति से कितना कष्ट हो रहा है, इसकी परवाह नहीं करते। कुछ लोगों में, अच्छे-अच्छे शिक्षितों में, जो अपने को ग्रेजुएट समझते हैं, जो अन्य लोगों के सामने अपनी योग्यता का अभिमान रखते हैं वे अपने मन की स्वार्थपरता को तथा तुच्छ मान की भोग की अपनी ही रुचिपूर्ति की तृष्णा को नहीं देख पाते। यद्यपि वे अपने को परिवार का हित-चिन्तक प्रेमी कहते हैं पर अपनी ही पूर्ति के लिये परिवार के लोगों को अधिकार बल से अभिमान वश दुखी करते रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य जन्म लेने पर जहाँ तक सृष्टि में क्षति पहुँचाता है, फिर उससे जो समाज की क्षति होती है, जहाँ तक परिवार से सेवायें लेता है; प्रत्येक मानव भूतल में जन्म लेने के बाद जहाँ तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का उपयोग करता है वहाँ तक सृष्टि का, देवताओं का रिणी है। जहाँ तक समाज से, परिवार से सेवायें लेता है, वहाँ तक समाज, परिवार का रिणी है। जहाँ तक अपने जीवन में पशु प्राणियों से सम्बन्ध रखकर अपनी पूर्ति

करता है, वहाँ तक प्राणियों का रिणी है। इन रिणों से मुक्त होने के लिये गृहस्थी में विशेष श्रम आवश्यक है।

सद्गृहस्थ वही है जो किसी का रिणी न रहे और शक्ति समय के सदुपयोग द्वारा सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो जाये।

जब तक कोई संसार से कुछ भी आशा रखता है, किसी भी वस्तु या व्यक्ति से, स्थान से सुख चाहता है तब तक संसार के शासन से, बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

विवेकी सदगृहस्थ वही है जो पत्नी के प्रति, पुत्र के प्रति, माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्य पूर्ण करता जाता है और दूसरों के कर्तव्य-पालन की अपेक्षा नहीं रखता। विवेकी सदगृहस्थ जिसे जितना प्यार देना है, आदर देना है, जिसे भिक्षा देना है, अन्न वस्त्र देना है, धन देना है उतना देता जाता है, पर दूसरे से जो लेना है उसका त्याग करता है, वही मुक्ति के पथ में है, वही स्वतन्त्रता-स्वाधीनता प्राप्त करता जा रहा है।

सद्गृहस्थ वही है जो मोहवश स्वजनों की रुचिपूर्ति का पक्ष नहीं लेता; बल्कि कर्तव्य-धर्म के अनुसार अपनी प्राप्त शक्ति के भीतर सबका निर्वाह करता है।

विवेकी सदगुहस्थ यह देखते हुए कि स्त्री क्या चाहती है? पुत्र क्या चाहता है? भाई-बन्धु, मित्र क्या चाहते हैं? यही निर्णय करता है कि कौन-कौन सी चाह पूर्ण करनी चाहिये, जिसमें कि चाहनेवाले का अहित न हो।

जो विवेकी नहीं है, मोही हैं, वही दुखी रहते हैं; क्योंकि जो कुछ नहीं है, उसकी इच्छा करते हैं और जो कुछ मिला है, उसका सदुपयोग नहीं कर पाते, उतने में सन्तोष नहीं धारण करते।

प्राप्त शक्ति तथा योग्यता का सदुपयोग, परस्पर पवित्र व्यवहार का ही पक्ष और सदगुण-विकास के लिए सतत विवेकपूर्वक परिश्रम यह सदगृहस्थ में ही पाये जाते हैं।

कहीं-कहीं दैवी सम्पत्ति वाले पुरुष को आसुरी प्रकृति की नारी मिल जाती है, वह पुरुष की प्रगति में बाधक बनती है, ऐसी परिस्थिति में पुरुष को अपने अधिकार का त्याग करना चाहिए और धर्मानुसार नारी के अधिकार की पूर्ति करनी चाहिए। नारी यदि दान में, अध्ययन में विघ्न डाले तो यह सब शुभ कर्म उससे अलग करना चाहिए, किन्तु उसके निर्वाह का पूरा ध्यान रखते हुए, उसकी विचार-विरुद्ध रुचियों की पूर्ति का पक्ष न लेना चाहिये।

किसी को दुख देकर उससे सुख प्राप्त करना, किसी के अधिकार को छीनना, किसी के हिस्से की वस्तु ले लेना या हिस्से की वस्तु न देना, यह अपराध है; परन्तु कोई अपनी रुचि-पूर्ति न होने से दुखी हो रहा हो तो

अपना कोई दोष नहीं है।

जैसे किसी पुरुष की आमदनी सादे भोजन, सादे साधारण वस्त्रों से जीवन-निर्वाह करने भर के लिए है और स्त्री कीमती साड़ी न पाने से, आभूषण न पाने से दुखी हो रही हो, लड़के-लड़की अच्छे कीमती वस्त्र न पाने से दुखी रहते हों तो उसका अपराधी पुरुष नहीं है। घर मालिक का यही कर्तव्य है कि सबको खिला के खाये, सबको पहिना के पहिने। जितनी शक्ति सम्पत्ति हो, उतने के भीतर ही मर्यादापूर्वक खान-पान, वस्त्र, लेना-देना, जाति संस्कार आदि सब व्यवहार करे। शक्ति से अधिक की इच्छा न करे, न दुखी होवे। यदि अपनी सन्तान या स्त्री किसी अभाव से दुखी होते हों तो उन्हें समझा दे कि 'तुम्हारे भाग्य में इतने से अधिक सुख बदा होता तो तुम किसी निर्धन के सम्बन्धी बन कर क्यों आते, कहीं धनी मानी, राजा-महाराजा, सेठ के घर में जन्म लेते'।

प्रत्येक प्राणी के जीवन में जन्म, मृत्यु, संयोग वियोग, हानि लाभ, यश अपयश, भाग्यानुसार ही होते हैं, विवेकी जन इन्हीं सब द्वन्द्वों के बीच में त्याग को, ज्ञान को, प्रेम को, दैवी शक्ति सम्पत्ति को पूर्ण करते हैं, अविवेकी बार—बार सुख के अन्त में दुख भोगते रहते हैं।

विवेकी सदगृहस्थ का अपनी सन्तान के प्रति यही कर्तव्य है कि जहाँ तक हो सके, शिक्षित बना दे।

शिक्षा और दीक्षा से मानव जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है। शिक्षित वही है जो गम्भीर हो, शान्त हो, जिसकी बुद्धि न्यायी हो, जो अपने को इतना सुन्दर बना ले कि जिसे किसी की आवश्यकता न रह जाय, बल्कि समाज को ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होती रहे और समाज की पूर्ति का वह साधन बना रहे।

शिक्षा वही है जिससे प्राप्त शक्ति सम्पत्ति द्वारा जीवन का श्रृंगार हो और दीक्षा वही है जिसके द्वारा सुन्दर जीवन का अर्थात् श्रृंगार का सेवा में सदुपयोग हो।

शिक्षा वही है, जिसके द्वारा शान्तिपूर्वक जीवन की यात्रा हो और दीक्षा वही है, जिससे अपने लक्ष्य का ज्ञान हो और उस लक्ष्य पर सदा दृष्टि हो।

जब विद्या से अभिमान की लोभ की व्यसन दासता की वृद्धि हो तब उस विद्या का आसुरी प्रकृति से संग समझना चाहिये। जब विद्या के बल से कुशलता पूर्वक भोगों की तथा स्वादिष्ट भोजनों की तथा निद्रा की पूर्ति अमर्यादित रूप से की जाती हो तब विद्या का पशु प्रकृति से सम्बन्ध समझना चाहिये।

विवेकी धर्म-परायण गृहस्थ का कर्तव्य है कि अपनी सन्तान को विद्याध्ययन काल में आलसी, व्यवसनी, बहुत शौकीन न होने दे। मन और

इन्द्रियों की खूराक देते रहने से मन तथा इन्द्रियों पर बुद्धि का शासन नहीं रहता।

जो पिता अपने पुत्र को अपनी शक्ति से भोगी, व्यवसनी, अभिमानी, आलसी, प्रमादी, असंयमी होने में सहायक बनता है, वह अपने सद्क र्व्यि से विमुख होता है, यह उसकी अयोग्यता का परिचय है।

सन्तान भी अपने पूर्व कृत शुभाशुभ कमो के अनुसार ही मिला करती है, कोईस न्तानव ासना-पूर्तिक रनेअ ातीह ै,क ोईस ेवाओंक ाब दलाल ेने आती है, कोई केवल वह लेने ही आती हैं, जो कभी उनके अधिकार की पूर्ति नहीं की गई है, कोई शत्रुता का बदला चुकाने आती हैं।

यदि किसी को आज्ञाकारी, सदाचारी, संयमी, श्रमी, सन्तान मिले तो अपने शुभ कमो का फल समझना चाहिये। यदि कोई प्रतिकूल, अवज्ञा करने वाली, असंयमी, स्वच्छन्द, आलसी, उड़ाने-खाने में धन का अपव्यय करनेवाली सन्तान मिले तो अपने ही किसी अपराध का फल समझकर सन्तोष करना चाहिये और उससे उदासीन हो रहना चाहिये, अपना मानकर मोह न करना चाहिये। उसे बदला लेने वाला जीवात्मा समझकर धैर्य से सब कुछ सह लेना चाहिये।

सन्तान को उतनी ही सम्पति देना हितकर होगा जितनी से श्रम करने का अवसर रहे। श्रम के द्वारा प्राप्त धन का उपयोग करनेवाले का दय शुद्ध रहता है; किन्तु जो कोई सम्पत्ति की अधिकता में भोगी, आलसी, रोगी, प्रपंचासक्त बन जाय तो सम्पत्ति का देने वाला भी दोषी, अपराधी बनता है।

जो माता-पिता अपनी सन्तान को आरम्भ से ही कर्तव्य-धर्म की, सभ्यता,ि शष्टाचारस म्बन्धीि शक्षान हींद ेते,उ नका ँचेव यक्तियोंम ें, समाज के उच्च क्षेत्र में प्रवेश पाना कठिन हो जाता है।

बालक, माता-पिता का अनुकरण करते हैं। बालकों को सभ्य, सुन्दर बनाने के लिये माता-पिता का जीवन तथा पारस्परिक व्यवहार बर्ताव, पवित्र सुन्दर होना चाहिये।

जिस परिवार में योग्य व्यक्ति होते हैं, उनकी सभी वस्तु सुन्दर ढंग से यथास्थान में मिलेगी। जूते से लेकर कंघा तक सारा सामान, द्वार से लेकर भीतर की अलमारी तक विधि से रक्खा हुआ मिलेगा।

अपने बालकों के मन में बड़ों के प्रति पूज्य भाव दृढ़ बना देना, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा जाग्रत कर देना, घृणा, द्वेष, आलोचना, निन्दा से बचाते रहना, श्रम तथा प्रार्थना का अभ्यासी बना देना, यह योग्य अच्छे माता-पिता का काम है।

अपने बालकों को धनी बनाने की इतनी चिन्ता न करनी चाहिये।

शरीर की क्षति, समाज की क्षति हानि , देश की क्षति, प्राकृतिक क्षति की पूर्ति जिस विधि से हो सकती है, वह यज्ञ कर्म है।

हम जो कुछ अपने शरीर द्वारा गन्दगी फैलाते हैं उसे स्वच्छ बनाने के उपाय यज्ञ कर्म हैं।

भूमि को, जल को, वायु को, स्वच्छ बनाना, तन को, मन को, बुद्धि को पवित्र बनाना जिस विधि से सम्भव है, वह यज्ञ कर्म है।

जिस कर्म के द्वारा, जिस भाव के द्वारा, जिस ज्ञान के द्वारा दूसरों का और अपना हित हो, वही कर्म-यज्ञ, उपासना-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ कहा जाता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि में जो पोषण प्रवृत्ति है, वही यज्ञ-नियम है।

प्राकृतिक विधान में सर्वत्र उदारता का दर्शन मिलता है, वहाँ सदा देना ही देना है।

प्राकृति विधान में संहार भी नव सृजन के लिए है।

लौकिक सांसारिक , पारलौकिक उन्नति के लिये यज्ञ करना, दान देना, तप करना, यह मानव को पवित्र बनाने वाले साधन हैं। यज्ञ, दान, तप मानव के मुख्य कर्तव्य हैं।

अपने कर्तव्य पूर्णता के लिये सभी प्राणी स्वतन्त्र हैं परन्तु सभी प्राणियों को अपने-अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है। यदि कर्तव्य की चर्चा चलती भी है तो दूसरों के ही कर्तव्य का विवेचन होता है, अपने कर्तव्य का नहीं।

अधिकांश में सबको अपने अधिकार का अभिमान होता है, उसी की पूर्ति करा लेना दूसरों का कर्तव्य सभी लोग जानते हैं, पर दूसरों के अधिकार की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझने वाले विरले विद्वान ही होते हैं।

मनुष्य में लोभ, मोह, अभिमान आदि जितने दोष बढ़े हैं, वह समयानुसार पूरे किये जाने वाले कर्तव्यों की अवहेलना करने से, अनादर करने से बढ़े हैं।

जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, उन्हें विधिवत पूर्ण करना यज्ञ है।

कर्तव्य प्रेमी और अभिमान

वास्तविक बुद्धिमान विद्वान वही है जो अपने को अभिमान के मद से अर्थात गर्व के नशे से बचा लेता है।

जिसे किसी प्रकार का अभिमान, मद नहीं होता वही सच्चा आस्तिक है, वही विवेकी है, वही उस सर्वोपरि महान को जानता है, जिससे प्राणी को सब कुछ मिलता है; इसीलिए वह अभिमानी नहीं बनता।

बालकों को संसार में काम करने की और उससे समय शक्ति के रहते ही निकल आने की विद्या सिखाना चाहिये।

विवेकी सदगृहस्थ वही है जो युवावस्था का अन्त होने तक गृह के कर्तव्य पूरे कर लेता है। वह निश्चित समय के पश्चात सन्तान नहीं पैदा करता। वह अपनी प्राप्त सन्तान को शिक्षित, सुयोग्य बनाकर, गृहस्थी का कार्य उसी को सौंपकर, वानप्रस्थ की तैयारी करता है। विवेकी सदगृहस्थ को चाहिये कि वह वृद्धावस्था आरम्भ होने के बीस वर्ष प्रथम से ही भोजन करने भर को घर में प्रवेश करे और किसी भी इन्द्रिय की खूराक देने के लिये घर में न आये। बाहर द्वार पर ही रहे। बालकों का शिक्षण, संरक्षण तथा प्रबन्ध करता रहे। जब बालकों के व्याह हो जाँय, वह कार्य करने लग जाय तब घर का द्वार भी छोड़ दे। ग्राम के बाहर रहकर आवश्यक शेष कर्तव्य पूरा करे और जब सन्तान के प्रति कोई ऋण शेष न रहे, सभी सन्तान गृहस्थ बन जाँय तब अपना ग्राम भी छोड़ दे; बानप्रस्थी हो जाये क्योंकि जीवन में ही मुक्त होने की तैयारी कर लेना है। जो गृहस्थ घर में ही शरीर छोड़ता है, वह सद्गृहस्थ नहीं है, उसने जीवन का सारा कर्तव्य पूर्ण किया ही नहीं।

जब तक इन्द्रियों द्वारा प्रवृत्ति है तब तक भोगासक्ति दृढ़ समझनी चाहिये। भोग का परिणाम पराधीनता, शक्तिहीनता और जड़ता की वृद्धि, सन्त बतलाते हैं— कोई भी विवेकी समझ सकता है।

भोगासक्ति का अन्त करने के लिये सर्व-हित भावना को सेवा के द्वारा चरितार्थ करना होता है, इसी के लिए गृहस्थ को वानप्रस्थी होना अत्यावश्यक है।

भोगों की इच्छा मिटने पर ही मोक्ष की लालसा पूरी होती है।

जो गृहस्थ तप से, त्याग से डरते हैं, वे निरे नासमझ विचारहीन हैं, जो कुछ तप-त्याग करते हुए अधिक तप-त्याग नहीं कर पाते, वे कायर हैं। जो डरते जाते हैं पर पूर्ण तप-त्याग का दृढ़ संकल्प पूरा करने में तत्पर हैं वही साहसी हैं और पूर्ण तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी ही संसार में परम वीर पुरुष हैं।

नेत्रों को, रसना जीभ को वश में रखना, मन को प्रलोभनों में न फंसने देकरअ पनेप वित्रउ द्देश्यक ीप ूर्तिम ेंल गायेर खना,म नक ेव ेगक ो मर्यादा में रखना ही वीर पुरुष का ही काम है।

समस्त कर्म यज्ञ-भाव से करना कर्तव्य है

अपनी शक्ति सम्पति से प्रसन्नतापूर्वक दूसरों की सहायता सेवा करना यज्ञमय जीवन है।

अभिमान सभी अनथो का मूल है, विनम्रता सभी शुभ कमो से श्रेष्ठ है; इसी से अभिमान पर विजय मिलती है।

यदि तुम अभिमान-मद को अपने से हटाना चाहते हो तो जो कुछ भी शुभ-सुन्दर, श्रेष्ठ मिला है उसे परमेश्वर का प्राकृतिक-विधान द्वारा दान समझो, उसे अपनी विशेषता न समझो।

मिले हुए को अपना मानने से ही अभिमान, लोभ, मोह आदि दोषों की पुष्टि होती है। तुम कुछ भी अपना न मानो, वरन सच्चे दाता को जानो।

जो संसार के वैभव, अधिकार, सम्पत्ति की सत्यता पर विश्वास करते हैं, वही अभिमानी होते हैं।

अपनी उन्नति के प्रेमियों! जब तुम प्राप्त गुणों का उपभोग करने लगोगे तभी तुम्हारी उन्नति रुक जायेगी। जब तुम दोषों का त्याग करते हुए गुणों का अभिमान जाग्रत न होने दोगे और अपने हित के लिए ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपनाये रहोगे, तभी तुम्हें दिव्यता प्राप्त होगी।

जिसके जीवन में प्रीति का योग परमात्मा से होता है, उसे विनाशी देह का, उच्चकुल का, बल का, धन का, विद्या का, रूप का, तप का, अधिकार का, अभिमान नहीं होता।

कोई भी प्राणी अपनी बुद्धि से जिस वस्तु का प्रीति-पूर्वक मूल्य बढ़ा देता है। उसी वस्तु का उस पर प्रभाव पड़ता है, उसी वस्तु के संयोग से अभिमान परिपुष्ट होता है, उसी वस्तु का लोभी मोही होता है।

विनाशी वस्तुओं का अभिमानी व्यक्ति कभी न्यायी अथवा सत्य का प्रेमीन हींह ोप ाताज बत क िकव हअ विनाशीक`य ोगानुभवक`ि लिए अभिमान का त्याग न कर दे।

धन के, बल के, विद्या तथा अधिकार के अभिमानी व्यक्ति को महापुरुष कभी श्रेष्ठ नहीं कहते; क्योंकि वह सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों की दासता में बंधा हुआ है इसीलिए वह बड़ा आदमी श्रेष्ठ पुरुष नहीं है, बड़ा तो वह है जिसकी प्रीति सर्वोपरि महान से है।

'धन विद्या गुन आयु बल, यह न बड़प्पन देत।
नारायन सोइ बड़ा जाका हरि सों हेत।।

जो तुमसे आयु में अधिक हैं साथ ही विद्या में अधिक हैं और ज्ञान में अधिक हैं उनकी आज्ञानुसार ही सब काम करना हितकारी कर्तव्य है।

तुम स्वयं अपने को जब किसी से बड़ा व्यक्ति समझो तब इतना अवश्य देख लो कि जिसे तुम छोटा मानते हो वह तुमसे आयु में कम है या विद्या में कम है, या विवेक में कम है, अथवा धन या कुल में न्यून है।

वास्तव में बड़ा वही है जिसे सत्य का, धर्म का ज्ञान है, बड़ा वही है जो दूसरों को, अपने से छोटों को साया देता है अर्थात् आश्रय देता है। ऐसा

बड़ा आदमी किसके काम आता है जो ताड़ के पेड़ की भाँति दूर से दिखाई देता है, फल भी दूर से बड़े-बड़े दीखते हैं परन्तु उसकी शरण लेने कोई जाय तो न छाया ही मिलेगी न उन फलों से क्षुधा ही मिलेगी।

तुम जिन्हें अपने से श्रेष्ठ देखो, बड़ा देखो उनका सहारा लो, उनकी सम्मति लेकर सब काम करो, उनकी हितकारी आज्ञा का, सम्मति का, उनकी प्रेरणाओं का सदा आदर करो। कहीं विरोध न करो। विरोध करो तो अपराध का करो, अनर्थकारी प्रवृत्ति का करो।

जिन्हें अपने से छोटा देखो उन्हें सहारा दो उनकी निर्बलताओं को अपनी शक्ति से दूर करने का प्रयत्न करो, उनके संग में अपने श्रेष्ठ गुणों के बल को लेकर निर्वाह कर लो।

बड़ों को मान दो छोटों को प्यार देते रहो।

जो कुछ तुम बड़ों से चाहते हो वही छोटों को देते रहो। जो कुछ तुम छोटों से नहीं चाहते, जो कुछ अनुचित प्रतीत होता है वही छोटों के साथ न करो। यही बड़ों के प्रति तथा छोटों के प्रति तुम्हारा कर्तव्य है।

यदि सुन्दर विधि से कार्य करना चाहते हो तो उद्वेग उतावली जल्दबाजी में शक्ति का दुरुपयोग न होने दो। गम्भीरता और विचार पूर्वक कार्य करने के अभ्यासी बनो।

किसी सत्योपालक ज्ञानी महापुरुष के वा य दर्शन से सन्तोष न करो, उसके मार्ग को देखो और उसमें चलना आरम्भ कर दो।

अपने कल्याण के लिये स्वयं ही साधन निश्चित करके मनमुखी स्वच्छन्द न बनो। सा ान का निर्णय विवेकी महापुरुषों को करने दो, तुम केवल अपनी दशा को उनके सम्मुख स्पष्ट रख दो।

सुख चाहते हो तो शक्ति की शरण लो,
शान्ति चाहते हो तो सत्य परमात्मा की शरण लो।

इन्द्रियों को स्ववश करने के लिये, मन की चंचलता रोकने के लिये, वासनाओं का आदि कारण और अन्तिम परिणाम जानने के लिये जिस विवेकक ी,अ थवा ि जसत पक ी,ि वधि-विज्ञानक ीअ ावश्यकताह ै,व ह सत्संग और विचार के द्वारा सुलभ होता है। सत्संग और विचार का सुयोग न हो तो सहस्रों वर्ष तक आत्मा के गुण नहीं विकसित होते।

आवश्यक कायो से अवकाश पाकर, कुछ समय नित्य एकान्त में मौन होकर बैठो, एकान्त में अध्ययन करो। परमेश्वर के नाम का जप, योगाभ्यास, शयन, भोजन भी एकान्त में ही होना उत्तम है।

एकान्त और मौन के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होती है, शान्ति का द्वार खुलता है, ज्ञान-प्रकाश उतरता है।

कामनाओं का कोलाहल कभी चित्त को स्थिर नहीं होने देता; इसीलिए

अनेकता का अन्त करने के लिए एकान्त और मनन का अन्त करने के लिए वाणी तथा मन का मौन अनिवार्य न छोड़ने योग्य साधन हैं।

मिथ्या दृष्टि रहने तक अर्थात् राग-द्वेष, मोह, लोभ, अभिमान रहने तक बड़े से बड़े वैभव राज्य-पद के छोड़ देने पर भी शान्ति न मिलेगी।

सन्त की सम्मति है कि प्रेम करना है तो उससे करो, जिससे कभी वियोग होता ही नहीं। त्याग करना है तो उसका करो, जो सदा साथ रह सकता नहीं।

जिस प्रकार मक्खी, च्यूंटी, चींटे मिठाई में चिपट-चिपट कर मरते रहते हैं, उसी प्रकार भोग-सुखों में आसक्त प्राणी, वस्तुओं- व्यक्तियों में उलझ-पुलझ कर मरते रहते हैं।

बुद्धिमान सज्जनों ! यदि आपमें कहीं भी अपने अनादर का, अवज्ञा का दुःख होता है तो समझ लो कि कहीं अवश्य ही अभिमान छिपा है।

अभिमान से ही भेद-भावना बढ़ती है। जहाँ भेद-भावना है, अपने से कोई छोटा, नीच, तुच्छ दिखाई देता है, वहीं प्रीति सीमित हो जाती है। जहाँप्रीतिप क्षस हितस ीमितह ोज ातीह ै,व हींस ंघर्षह ोतेर हतेह ै—अनेकों दोष बनते रहते हैं।

यह गुरु-सन्देश है कि सबको परमेश्वर का समझ लेने से अभिमान मिट जाता है।

सत्य को न जानने से और असत्य को अपना मानने से अभिमान उत्पन्न होता है।

सेवा-भाव से, अपना कर्तव्य पालन करने से अभिमान नहीं रहता।

सन्त कहते हैं—दूसरों की सज्जनता का भोग करने से अभिमान बढ़ता है। गुणों को अपना न मानो, दोषों को मन में स्थान न दो, यही अभिमान मिटाने का उपाय है। सभी प्राणी अपने किये हुए कमो का फल भोग रहे हैं। चाहते हुए भी अधिकार से अधिक सुखोपभोग नहीं मिलता और मिला हुआ भी नहीं टिकता। दुःख न चाहते हुए भी स्वतः ही आता है।

अच्छे कमो का फल शुभ और सुन्दर होता है। बुरे कमो का फल अशुभ, असुन्दर होता है। कर्म कर लेने के पश्चात् क र्ा फल-भोग के लिए परतन्त्र हो जाता है। यदि वह किसी अंश में स्वतन्त्र है तो भोग की परिस्थिति में अपने कर्तव्य-पालन के लिए स्वतन्त्र है।

अपने सुख का पक्ष तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी लेते हैं, आदत-अभ्यास के अनुसार पशु भी कर्म कर लेते हैं, वे विद्या नहीं पढ़ते। विद्वान नहीं होते, इसीलिए उन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता।

पशु वही है, जो स्वयं कोई सेवा कर्तव्य समझकर नहीं कर सकता,

उससे कोई भी सेवा लेना चाहे तो कर्म में लगाये रह सकता है। पशु को जब भूख लगेगी तब वह यह नहीं सोच सकता कि 'अपने मालिक का खेत नहीं चरना चाहिए, केवल घास से ही पेट भरना चाहिए, इसीलिए पशु बन्धन में रक्खा जाता है। पशु को अपनी भोग-कामना की पूर्ति के लिए किसी प्रकार की मर्यादा का भेद नहीं रखना पड़ता। निद्रा के लिए समय-असमय नहीं देखना पड़ता। पशु के जीवन में ऐसी विधि निषेध रहित ि यायें इसीलिए होती रहती हैं; क्योंकि उसमें क र्व्य अक र्व्य क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए का विवेक नहीं है।

वह मनुष्य भी पशु के ही समान है जो किसी की हानि का, अपमान का, किसी के दुःख का ध्यान न रख कर अपनी क्षुधा की, नींद की तथा काम-वासना की पूर्ति करता रहता है। इसी प्रकार के प्राणियों के लिए शासन की—दण्ड की आवश्यकता है; क्योंकि ऐसी प्रकृति के जीव दण्ड, दुःख के भय से ही नियम का पक्ष लेते हैं। यदि ये मनुष्य बन्धन से, शासन से मुक्त हो जाते हैं तो उसी प्रकार समाज को क्षति पहुँचाते हैं, जिस प्रकार बन्धन से छूट जाने पर पशु हानि पहुँचाता है।

जिसमें जितनी बुद्धि जाग्रत है, उतना ही क र्व्य का ज्ञान अधिक होता है। जिसे जितनी अधिक सत्यधर्म में निष्ठा है उतना ही क र्व्य-पालन का ध्यान रहता है।

क र्व्य का विवेक जिसे हो सकता है, वही मानव है जिसे क र्व्य का विवेक नहीं हो सकता, वही पशु है। वह पशु चाहे आकृति से हो या प्रकृति से हो।

जिस प्राणी में कुछ भी बुद्धि है, उसे क र्व्य का ज्ञान हो सकता है। बुद्धि के होते हुए जो अपने क र्व्य को नहीं जानते, वह भाग्यहीन प्राणी हैं।

क र्व्य-पालन करते रहना मानव-जीवन में सभी प्रकार की सफलता, सिद्धि का साधन है। जहाँ तक किसी को अपने जीवन में कुछ भी शुभ, सुन्दर, प्रिय चाहिए वहाँ तक क र्व्य-पालन भी चाहिए। अपने-अपने क र्व्य को पूर्ण करने के लिए सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं; परन्तु दूसरों के क र्व्य-पालन में अपना सुख निर्भर करने वाले स्वतन्त्र नहीं हैं।

वीर पुरुष

इस जग में कोई कोई बड़े वीर निकले।।
विचलित न हुए कष्टों में बड़े धीर निकले।।
कुछ भी पाकर जिनके मन में अभिमान नहीं रहता।
प्रभु की सेवा में निज सुख दुख का ध्यान नहीं रहता।
वह बड़ी बड़ी कठिनाइयों को चीर निकले।।

वे दुख न किसी को देते सबको अपना ही मानें।
शुभ अशुभ रूप दोनों में ही प्रियतम को पहिचानें।
जब प्रेम छलक आया नयनों से नीर निकले।।
वह परमेश्वर के प्राणी इस भूतल पर आये हैं।
सब परमेश्वर में जीते हैं कोई न पराये हैं।
दुखियों को सुख देने में बड़े अमीर निकले।।
जिनके उर में इन्द्रिय भोगों की चाह नहीं रहती।
दुखदायी दोषों के आगे की राह नहीं करती।
वह 'पथिक' प्रलोभन से न डिगे गंभीर निकले।।

सुखकर और हितकर

अपना क र्व्य-पालन करने से ही अपना हित होता है दूसरों के क र्व्य पालक होने से अपने को सुख भले ही मिले; परन्तु हित नहीं होता।

मनः प्रधान व्यक्ति सुख का पक्ष लेता है, बुद्धि प्रधान व्यक्ति हित का पक्ष लेता है। सुख में प्राप्त का भोग है और हित में प्राप्त का सदुपयोग है।

अपनी रुचि के अनुसार सुख चाहने वाले व्यक्तियों को जो कुछ भी मिलता है, उसका उपभोग वे करते रहते हैं। छोटी-से-छोटी तुच्छ वस्तु को लेकर वे सर्व शक्तिमान परमानन्द भगवान् को भी यदि पा जायें तो अपने सुखोपभोग को ही चाहते हैं। यही विवेकहीन सुःख लोलुप सुख चाहते रहनेवाले मनः प्रधान व्यक्ति हैं।

विवेकी पुरुषों को जो कुछ भी मिलता है— तुच्छ वस्तु से लेकर महान् तक— उसका अपने हित के लिए वे सदुपयोग ही करते हैं।

प्राप्त के उपभोग का ज्ञान तो छोटे-से-छोटे, तुच्छ प्राणियों को भी है, परन्तु सदुपयोग का ज्ञान गुरुजनों के संग से होता है।

संयमी चि ा से जितना हित होता है, उतना और किसी सम्बन्धी से नहीं होता। संयमी चि ा के द्वारा ही मिले हुए का सदुपयोग हो पाता है।

क र्व्य-परायण पुरुष की सारी प्रवृ ि अपने और दूसरों के हित का ध्यान रखकर होती है।

हित और सुख में अन्तर है। सुख का पक्ष लेने से बड़े-बड़े अपराध बनते रहते हैं, बन् ान बढ़ते रहते हैं। पराधीनता, शक्तिहीनता और अन्त में जड़ता का दुःख भोगना पड़ता है। हितकारी कर्म करने से दोषों का नाश होता है, स्वतन्त्रता और शक्ति सुलभ होती जाती है, अन्त में शान्ति प्राप्त होती है।

बुद्धिमान, विवेकी अपने तथा दूसरों के सुखी रखने का ही पक्ष नहीं रखते वरन् हित का पक्ष लेते हैं। इसीलिए उस सुखोपभोग का त्याग करते

हैं, जिससे परिणाम में अहित होता है। उस दुःख को सह लेते हैं जिसके परिणाम में हित होता है।

हितकारी कर्तव्य कमो को पूर्ण करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति जड़ता से चेतना की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर, दोषों से गुणों की ओर प्रगतिशील होता है।

कोई भी पुरुष काम, ोध, आलस्य, भ्रान्ति, संशय से मुक्त होकर ही अपना और पराया हित कर सकता है।

बुद्धिमान सज्जनों ! जितनी भी वस्तु आपको मिली है अथवा जितने सम्बन्धी मिले हैं, या आप जितने भी कर्म करते हैं, जैसा भी आप भोजन करते हैं या वस्त्र धारण करते हैं, दूसरों के साथ आप जो कुछ भी व्यवहार करतेह ैं—इनस बकेद्व ारास ुखतोअ ापकोि मलतीह ैह ैं;प रन्तु जिससे आपका हित होता है, वह कौन सी वस्तु है? वह कौन सा सम्बन्धी है? वह कौन सा कर्म है? वह कौन सा भोजन है? वह कौन सा वस्त्र है अथवा वह कौन सा व्यवहार है? इसका निर्णय करना भी आपका क र्व्य है।

आप सावधान होकर विचारपूर्वक गुरुजनों के साथ मिलकर निरीक्षण करेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि सभी हितकारी नहीं है, सभी सम्बन्धी आप का हित नहीं चाहते, सभी कमो से आपका हित नहीं हो रहा है। सभी प्रकार के भोजन सुखकर, रुचिकर भले ही हों पर हितकर नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार के विषय में भी ऐसी ही बात है। आपकी योग्यता इसी से नापी जायेगी कि सुखकर में ही मोहित न बनो, हितकर का पक्ष लो, हितकर का आदर करो।

अपने हित के लिये क्या-क्या करना चाहिए, क्या-क्या न करना चाहिए, दोनों पक्षों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना तुम्हारा कर्तव्य है।

जिस कर्म से दूसरों का अहित होता है, उसी से तुम्हारा भी अहित होगा। जिस कर्म से दूसरों का हित होगा, उसी से तुम्हारा भी हित होगा; इसीलिए शास्त्र में सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही धर्म कहा है।

सर्वहितकारीप ्रवृतिम ानव-धर्मह ैअ ौरध र्ममयअ ाचरणह ीब ुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है।

वाणी से तुम सबकी प्रसन्नता के लिए सत्य और साथ ही प्रिय मधुर शब्दों का प्रयोग कर सकते हो— यह तुम्हारा कर्तव्य है।

मन से भगवान् के नाते सभी को अपना मानकर सभी का भला चाहो, सभी से प्रेम करो, किसी से द्वेष न करो— यह तुम स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हो, अतः तुम्हारे लिए यह कर्तव्य है।

जिसे तुम अपना मानते हो उससे स्वतः ही प्रीति है, उसका अपने आप ही स्मरण-चिन्तन होता रहता है। उसके लिए त्याग करना, तप करना,

दान करना बहुत सरल प्रतीत होता है; इसलिए जहाँ तुम विनाशी वस्तुओं को अपना मानते हो, वहीं अविनाशी परमात्मा को अपना मानना और उन्हीं का स्मरण चिन्तन करते हुए अपने को विनाशी वस्तुओं के मोह से मुक्त बनाना तुम्हारा परम कर्तव्य है।

अपनी बुद्धि से जहाँ तुम संसार के विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हो, वहीं पर संसार के स्वामी का ज्ञान प्राप्त करना तुम्हारा सर्वोत्कृष्ट सबसे चाँ कर्तव्य है।

जब तुम अपनी बुद्धि के द्वारा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करोगे, तब जो कुछ इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, रूप की प्रतीति होती है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगी, अर्थात् जो कुछ प्रत्यक्ष भासता है, वह सब क्षण-क्षण बदलता हुआ मिटता हुआ दिखाई देगा।

बुद्धि के द्वारा ज्ञान होने पर विनाशी दृश्य के पीछे अविनाशी सत्य का बोध होगा, अविनाशी सत्य का अर्थात् परमात्मा का बोध होने पर विनाशी वस्तुओं के संयोग की दासता न रहेगी, वियोग का भय न रहेगा। अतः सत्य तत्व का ज्ञान प्राप्त करना तुम्हारा बौद्धिक कर्तव्य है।

जीव को भोग-भूमि से चलकर परमानन्द धाम में कभी न कभी पहुँचना है। यह कितनी लम्बी यात्रा है; इस पर जीव कभी विचार भी न करै, वह मूर्खाधिराज नहीं तो और क्या है?

जो व्यक्ति अपने लक्ष्य के विषय में विचार नहीं करता वही अविवेकी बालक है, चाहे वह आयु से अस्सी वर्ष का ही क्यों न हो। जो व्यक्ति अपने प्राप्तव्य लक्ष्य को जान लेता है वही वृद्ध है; भले ही वह शरीर की आयु से अठारह वर्ष का युवक हो।

जिस कर्म से मानव अपने परम लक्ष्य की ओर बढ़ता जाय, दुखों तथा दोषों की भूमि को छोड़ता जाय सांसारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों का आश्रय लिए बिना निर्भयता, निश्चिन्तता प्राप्त करता जाय, वही कर्तव्य है।

इस प्रकार के कर्तव्य, जिसके द्वारा ज्ञान होता है, वही विद्या है। जो ज्ञान कराता है, वही गुरु है। जिसके द्वारा कर्तव्य की पूर्ति होती जाती है, वही वास्तविक शक्ति है और जब कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है वही जीवन की पूर्ण सफलता है।

कर्तव्य की पूर्णता त्याग, तप से होती है

हमें ऐसे अनेकों व्यक्ति मिलते रहते हैं जिन्हें अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान है, अपनी समझ पर सन्तोष है। जो अपनी बुद्धि तथा विद्या के बल से सहस्रों मूढ़ मतिवालों को समझा सकते हैं, उनके सामने जब समस्त

दुःखों का कारण सुखासक्ति तथा लोभ, मोह, अभिमान आदि दोष सिद्ध किये जाते हैं और जब उनसे त्याग, तप-संयम, साधना की चर्चा की जाती है तब वे तत्काल ही कहने लगते हैं कि 'हम गृहस्थ हैं हमारे सामने अनेकों कर्तव्य हैं उन्हें पालन करना है, हम त्यागी तपस्वी कैसे हो सकते हैं ! यह तो साधु सन्यासियों के लिये है।' ऐसा कहनेवालों को ध्यान देकर समझना चाहिए कि जो मानव केवल अपना कर्तव्य पालन करेगा, वही वास्तव में त्यागी तपस्वी होगा; क्योंकि त्याग किये बिना, तप का बल हुए बिना कोई कर्तव्यपरायण हो ही नहीं सकता।

बहुत व्यक्ति त्याग का अर्थ लगाते हैं– घर-परिवार छोड़ वन में चले जाना, तप का अर्थ लेते हैं भोजन वस्त्र छोड़कर सर्दी-गर्मी भूख प्यास सहते रहना परन्तु वास्तव में यह त्याग नहीं है। यह तो कोई दम्भी स्वार्थलोलुप व्यक्ति भी कर सकता है।

त्याग उन दोषों का करना होता है, जिनके कारण जीवन में बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। कोई भी विचार दृष्टि से देख सकता है कि जिन वस्तुओं को हम सदा साथ नहीं रख पाते, जिनका वियोग निश्चित है, उन देह-गेह, धनादिक वस्तुओं से लोभ-मोह, अभिमान बढ़ाकर आज तक संसार में किसे दुख नहीं मिला? कौन निर्भय तथा चिन्ता, मुक्त हो सका? अहंता-ममता के रहते संसार में कौन शांति पा सका? हमारे सामने कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए त्याग करना है सीमित अहंता का, विनाशी वस्तुओं के प्रति ममता का, जो सुख सदा नहीं रहता, उसके प्रति आसक्ति का, अभिमान, लोभ एवं कामना का, दूसरों को दुःख देने, अपमानित करने के स्वभाव का त्याग करने से शान्ति मिलती है। इस प्रकार का त्यागी ही अपना कर्तव्य पूण करते हुए बन्धन मुक्त होता है।

तपस्वीम ॅह ीक र्तव्यप ूर्णक रनेक ीश क्तिह ोतीह ै।ज बद ूसरेक ॅ अधिकारानुसार अपना कर्तव्य पूर्ण करना ही धर्म प्रतीत होता है वह अपने मन की रुचि-पूर्ति का पक्ष नहीं लेता, अपने मन की रुचि का पक्ष न लेकर दूसरे की रुचि-पूर्ति करना तप है। दूसरों की सेवा में कष्ट सहते रहना तप है। इन्द्रियों का निग्रह तथा मन का निरोध तप है। इस प्रकार के तप से शक्ति बढ़ती है, शारीरिक, मानसिक निर्बलता घटती हैं

शक्तिहीन व्यक्ति न सेवा कर सकता है, न स्वधर्म पालन में तत्पर रह सकता है। वह न मुक्त हो सकता है, न भक्त हो सकता है। शक्तिहीन वही है, जो इन्द्रियों को संयम में नहीं रख सकता, मन को वश में नहीं कर सकता, आलस्य प्रमाद का त्याग नहीं कर सकता, जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता।

मिली हुई शक्ति को जो व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ वार्ता, परचर्चा, परनिन्दा,

हिंसा, व्यभिचार, दुराचार में नष्ट करता है, जो ईर्ष्या, द्वेष, ोध में शक्ति को खोता रहता है, वही शक्तिहीन होता जाता है।

शक्तिहीनता का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं है, विशेषकर मानसिक दुर्बलता से है। दुर्बल, शक्तिहीन मन में शुभ संकल्प दृढ़ नहीं होता। शुभ कमो में, सेवा में, कर्तव्य-पालन में उत्साह नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के लिए ही विवेकपूर्वक तप आवश्यक है।

जो धन सम्पन्न व्यक्ति उदार दानी न होकर लोभी है वह अवश्य ही कर्तव्य, विवेक से रहित है।

जो उच्चाधिकारी न्यायी, संरक्षक न होकर स्वार्थी, अभिमानी है, वह कर्तव्य-विवेक से हीन है।

जो शक्तिशाली वैभव सम्पन्न व्यक्ति निर्बलों का सहायक, सेवा परायण न होकर प्रमादी, भोगी है, वह भी कर्तव्य-विवेक शून्य है।

जो विद्यावान् अपने जीवन को सुन्दर न बनाते हुए अपनी भोग कामनाओं की पूर्ति के लिए छली, कपटी, दम्भी है वह भी कर्तव्य-विवेक से विमुख है।

जो सुखी व्यक्ति दुखियों की सेवा सहायता न करते हुए सुखोपभोग का कामी है, वह भी कर्तव्य विवेक का अनादर करनेवाला है।

जो सत्संग प्रेमी अपने को असत् के मोह से मुक्त न बनाकर, सर्वसाधारण मनुष्यों की भाँति ही लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मान—अपमान में हर्षित-शोकित, होता है, जो असत् संगीजनों की भाँति ही संसार में रागी है, वही द्वेषी है, तो वह भी कर्तव्य-विवेक को नहीं प्राप्त कर सका है।

किसी के पास चाहे जितनी अधिक विद्या हो, संपत्ति हो, शक्ति हो, चाहे जितनी बड़ी आयु हो, उसे भाग्यवश ँचा अधिकार मिला हो, कितने ही समर्थ सिद्ध महात्मा का संग मिला हो या स्वयं भगवान् ही उसे क्यों न मिल गए हों, फिर भी यदि उस मानव ने अपने कर्तव्य का ध्यान रख कर मिले हुए का सदुपयोग नहीं किया, तो सब व्यर्थ ही गया समझना चाहिए।

ग्राहस्थ्य जीवन में प्रवेश करने के पूर्व अथवा कुछ भी प्राप्त करने के प्रथम जो अपना कर्तव्य पालन के लिए सावधान है, वही भाग्यशाली विवेकी प्राणी है। चाहे नर हो या नारी हो, युवक हो, बालक हो या वृ हो, निर्बल हो या बलवान हो, सुखी हो या दुखी हो, कर्तव्य सभी का निश्चित है और अपनी-अपनी अवस्था तथा योग्यता नुसार सभी कर्तव्य के पालन में स्वाधीन हैं।

जो बुद्धिमान कर्तव्यपरायण होगा, वह अवश्य ही शरीर से परिश्रमी होगा—आलसी नहीं, संयमी होगा, असंयमी नहीं, सदाचारी होगा, दुराचारी

नहीं, सेवा प्रेमी होगा, स्वार्थी नहीं, दोषों दुर्विकारों का त्यागी होगा— लोभी मोही होकर रागी नहीं।

जिसे अपने कर्तव्य का विवेक है वही अपनी शक्ति, सम्पत्ति, जीवन, अवस्था, परिस्थिति का सदुपयोग करता है; सदुपयोग से उन्नति निश्चित है। मिले हुए का जो दुरुपयोग करता है उसी में अनेकों दुर्बलताएं तथा दोष आ जाते हैं।

जो जड़ता से चेतना की ओर, विनाशी से अविनाशी की ओर, मृत्यु से मुक्ति की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर चला जाए यही प्राप्त का सदुपयोग है— ऐसा संत का वचन है।

संसार का तथा गृहस्थी के कर्तव्यों का विवेकज्ञान बढ़ाने के लिए वृद्धों की सेवा करना आपका कर्तव्य है। शोक-रहित होने तथा बुद्धि को स्थिर रखने के लिए तृष्णा, भय और ो ा का त्यागकर मन को स्ववश में रखना आपका कर्तव्य है। सबके प्रिय होने के लिए, सबका शुभाशीर्वाद प्राप्त करने के लिए, मान त्यागकर विनम्रता धारण करना आपका कर्तव्य है। चि ा को शान्त रखने के लिए, पारस्परिक कलह- ोध मिटाने के लिए क्षमा माँगते हुए या क्षमा करते हुए सहिष्णुता धारण करना आपका कर्तव्य है। इसी से आपकी उन्नति होगी।

आत्माक`ि दव्यग ुणोंक ोि वकसितह ोनेक`ि लएि वरक्तत त्वज्ञानी पुरुषों का सुसंग करना, तद्नुसार विचारपूर्वक आचरण करना, वाणी में, मन में संयम रखना शिक्षित का कर्तव्य है।

किसी की सेवा का व्रत लेकर लोभ और काम का त्याग करना, अपनी रुचि की पूर्ति न करते हुए स्वामी की रुचि-पूर्ति का ध्यान रखना, कहीं भी ोध तथा अभिमान न आने देना, शरीर को, वाणी को, मन को सदा पवित्र रखना, सेवक का कर्तव्य है।

अपने कल्याण की अभिलाषा प्रबल होने पर किसी सन्त को, गुरु को, धर्मशास्त्रों को अथवा गीता को अपने स्वभाव के अनुसार न देखते हुए, सन्त, गुरु, शास्त्र एवं गीता के अनुसार अपना स्वभाव बना लेना, कल्याणार्थी का कर्तव्य है।

जब भगवत् भक्ति की अभिलाषा जाग्रत हो, तो भक्ति-प्राप्ति के लिए घन्टे दो घन्टे या वर्ष में मास दो मास साधन करने की अपेक्षा जीवन को ही साधन बना लेना, भगवत् प्रेमी का सर्वोपरि कर्तव्य है।

जो भगवद् भजन करना चाहता हो, उसे भगवान् में मन लगाकर सब काम करने की अपेक्षा सारे आवश्यक कमों को भगवान् का ही काम समझकर, विधिपूर्वक मन लगाकर करना, भक्त का कर्तव्य है।

शुभ अवसर है तो यह है, जो चाहो लाभ उठाओ।

शुभ अवसर है तो यह है, जो चाहो लाभ उठाओ।
यह व्यर्थ न जाने पाये, निज को निर्दोष बनाओ।।

सत्संगति से गति मिलती, हितकर पुनीत मति मिलती।
सद्‌गुरु-विवेक मिल जाता, उसको न कहीं ठुकराओ।।

दुख से न डरो जीवन में, प्रभु का आश्रय घर मन में।
जो कर न सके थे अब तक, वह भी कर के दिखलाओ।।

जग के इन संयोगों में, तुम रमो न प्रिय भोगों में।
तजकर वियोग का भय अब, नित योग गीत तुम गाओ।।

अपने स्वरूप को जानो, तन धन अपना मत मानो।
मोही बन कर आये थे, प्रेमी बन कर ही जाओ।।

इच्छाओं के त्यागी बन, प्रभु के ही अनुरागी बन।
ऐ पथिक कहीं भी रहकर, तुम परमानन्द मनाओ।।

वास्तविक जीवन और लाभ

संसार में सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है; परन्तु जीवन का ज्ञान लाखों मनुष्यों में किसी बिरले ही बुद्धिमान को है। उन्हीं बुद्धिमान ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा हमें प्रकाश मिला कि वास्तविक जीवन वही है, जहाँ मृत्यु का अधिकार नहीं, पहुँच नहीं।

जो विनाशी शरीर के रहने को ही जीवन मानते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि यह देहमय जीवन उस नित्य अविनाशी को प्राप्त कर लेने का साधन है।

एक छोटे बालक से लेकर सौ वर्ष के वृद्ध पुरुष को अपना लाभ अति प्रिय है, सब लाभ के ही लिये जीवन भर श्रम करते रहते हैं, परन्तु सबको वास्तविक लाभ का ज्ञान नहीं है।

वास्तविक लाभ वही है जिसकी हानि न हो, जिसे कोई दूसरा छीन न सके, चोरी न कर सके, जो देने से कभी घटे नहीं। जिसकी प्राप्ति में सभी नर नारी स्वतन्त्र हैं, उस लाभ का नाम दैवी सम्पत्ति है, दैवी गुण भी उसी को कहते हैं। यह लाभ भूमि से उत्पन्न नहीं होता, यह मिलों की मशीनों से नहीं निकलता, यह आकाश से पानी की भाँति यदा-कदा जब-तब नहीं बरसता। यह, दैवी गुणों का, दैवी सम्पत्ति का लाभ, हम सभी के साथ-साथ हैं– पर उसका अनुभव हम सब लोग नहीं कर पाते; बल्कि इस नित्य प्राप्त लाभ का दुरुपयोग करते हुए, हानि का पथ ग्रहण करते हैं और आसुरी सम्पत्ति को पकड़ लेते हैं।

सहज कर्म

विचारवान सज्जनों ! यह भी समझने की बात है कि जो कुछ अधिक किया जाता है, वही सहज कर्म बन जाता है। जो भाषा बोली जाती है उस भाषा का बोलना कुछ दिन में सहज कर्म, किसी भाषा को अधिक लिखने से लिखना सहज कर्म, अधिक हँसने से हँसना सहज कर्म, अधिक रोते रहने से रोना भी सहज कर्म बन जाता है; इसी प्रकार अधिक बार लेते रहने से लेना सहज कर्म, अधिक बार देते रहने से देना सहज कर्म प्रतीत होता है; इसी तरह से बार-बार ोध करने से कुछ दिन में ोध करना सहज कर्म और बार-बार क्षमा करने से क्षमा भी सहज कर्म बन जाता है। संसार में प्रपंच का अधिक स्मरण करने से प्रपंच स्मरण सहज कर्म, परमात्मा का स्मरण करते रहने से परमात्मा का स्मरण सहज कर्म दिखाई देता है।

आप किसी शुभ कर्म को, किसी साधना-पद्धति को अथवा त्याग, तप, दान आदि को कठिन कहकर न टालें; बल्कि उसे बार-बार करने लगें, तो कुछ दिन में ही वह सहज कर्म हो जायेगा।

जो कुछ अशुभ, अनावश्यक है उसे बार-बार करने से वही सहज कर्म बन जायेगा; उसी प्रकार शुभ कर्म को बारम्बार करते रहने से वही सहज कर्म हो जायेगा।

जागृति प्रेरणा

उठो मानव आँख खोलो सो चुके हो अब न सोना।।
स्वर्ण घड़ियाँ कदाचित तुम खो चुके हो अब न खोना।।

बहुत ही सुन्दर समय है जाग्रत जीवन बिताओ।
कहीं भी कर्तव्य पालन में न तुम आलस्य लाओ।
सबल होकर बहुत दुर्बल हो चुके हो अब न होना।।

मोह निद्रा में तुम्हें जो दीखता यह मधुर सुख है।
अरे यह सब स्वप्न है बस इसी सुख का अन्त दुख है।
तुम अनेकों बार अब तक रो चुके हो अब न रोना।।

मिल रहा है वही तुम को जो कि पहिले से दिया है।
उसी का फल सामने है शुभाशुभ जैसा किया है।
बीज अनुचित कर्म के यदि बो चुके हो अब न बोना।।

एक होकर बन रहे हो तुम अनेकों बेषधारी।
कभी स्वामी कभी सेवक कभी राजा या भिखारी।
पथिक क्या-क्या अभी तक तुम हो चुके हो अब न होना।।

कर्तव्यपरायण की दैवी सम्पत्ति

जीवन में बुद्धि, बुद्धि में विचार करने की शक्ति, विद्या, सत्-असत् का विवेक, स्वधर्म का ज्ञान, अपने कर्तव्यपालन की शक्ति, प्रीति, दया, करुणा, उदारता, स्वाभाविक निर्भयता, शुद्ध अन्तःकरण, चिन्तन, ध्यान की शक्ति, शुभ, सुन्दर, पवित्र, प्रिय वस्तु को देते रहने की वृत्ति, दमन तथा निरोध की शक्ति, धैर्य, सहनशक्ति, सरलता, नम्रता, मृदुलता, त्याग का बल, सेवा-भाव, संकल्पशक्ति, लज्जा, संकोच— यही सब दैवी सम्पत्ति हैं। जीवन में यही वह लाभ है जिसकी हानि कोई नहीं कर सकता। हम स्वयं ही दैवी सम्पत्ति का तिरस्कार कर, इससे विमुख होकर अपनी हानि कर सकते हैं। जो मानव अपने जीवन में दैवी सम्पत्ति के लाभ से विपरीत हो जाते हैं, उनमें स्वतः ही आसुरी सम्पत्ति आ जाती है।

कर्तव्यविमुख की आसुरी सम्पत्ति

दम्भ, दर्प, अभिमान, ोध, कठोरता, मूढ़ता, अपवित्रता, अज्ञान, विचारहीनता,अ ालस्य,प्रमाद,स्वच्छन्दता,न ास्तिकता,अ सत्यक`प्रति मोह, लोभ भोगासक्ति, मन्दबुद्धि, निर्दयता, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसक स्वभाव, कुटिलता, चिन्ताभ्रमित, आशाबद्ध, विधिरहित यज्ञादि शुभ कर्म, कृपणता, शुभ सुन्दर को लेते रहने की कामना, निर्लज्जता, संकोचहीनता, धन के, देहबल के, अ ािकारबल के मद से उन्मत्त— यही सब लक्षण आसुरी सम्पत्ति के हैं।

अपने ज्ञान का, बुद्धिमत्ता का, विद्या का अभिमान प्रायः सभी में रहता है; परन्तु अपने में अज्ञान का ज्ञान किसी-किसी बुद्धिमान विद्वान को होता है।

सभी प्राणी यही चाहते हैं कि जीवन में कभी दुःख न हो; परन्तु दुःख होता ही क्यों है! इसका विवेक किसी बिरले को ही होता है।

इस सत्य को भी जो कोई चाहे अभी समझ ले— जितने भी दुःख हैं वह सुख की चाह के कारण हैं और दुखी के हित के लिए है। सुख की दासता से मुक्त होने की अभिलाषा, दुःख की कृपा से ही होती है।

यदि सुख शक्तिमान की दया से मिलता है, तो दुःख शक्तिमान के विधान की कृपा से मिलता है।

सुख की आसक्तिवश, वस्तुओं व्यक्तियों की दासता बढ़ती जाती है। दुःख की कृपा से जब कभी विचार जाग्रत होता है तब सुख की दासता के त्याग का बल मिलता है।

विचार की कमी के कारण दुखी मनुष्य दूसरों को दुःखदाता मानता है; परन्तु सत्य यही है कि दूसरा कोई दुःख नहीं देता, वह तो अपनी ही भूल से, अपने ही अज्ञान अथवा सुखोपभोग की चाह प्रबल होने से, अनुकूल के प्रति राग दृढ़ होने से, अर्थात् अपने ही बनाये हुए मोह, लोभ, अभिमान, तृष्णा, कामना आदि दोषों के परिणाम से दुःख आता है और इसीलिए आता है कि दुखी जीव सत्य की खोज करे, सत्य को जाने, जो कुछ असत् है, विनाशी है, उसे अपना न माने।

नेताओं के लिए

जिसके पर दूसरों को मार्ग दिखाने का भार है, जो दूसरों पर नेतृत्व करता है, वही नेता है। अच्छा नेता वही है जो अपने मन पर नेतृत्व रखता है अर्थात् जो मन को, इन्ि यों को स्वच्छन्द नहीं घूमने देता।

यदि आप नेता हैं— चाहे अपने घर के हों या जाति के हों अथवा समाज के हों या देश के नेता हों, आप अपने भीतर देखते रहें— किसी से शत्रुता न होने पाये, साथ ही किसी परिस्थिति में अथवा संग पड़कर कोई अर्थ तथा काम की वासना न उभड़ने पाये और संग्रह की लोलुपता न आने पाये; क्योंकि वासना तथा बैर विरोध एवं संग्रह के रहते हुए कोई व्यक्ति समाज का नेतृत्व नहीं कर पाता।

किसीस ीमाक`भ ीतरज ो,क ुछव स्तुओंत थाव यक्तियोंक ो,अ पनी मानता है, वह भेद-दृष्टि रखता है, वह भी नेता नहीं हो सकता। जहाँ भेद-दृष्टि है वहाँ संघर्ष कलह का अन्त नहीं होगा।

जो किसी का नहीं होता वही सब का होता है, जो सब का होता है वह किसी का नहीं होता।

जो स्वधर्म-पालन में, सत्कर्म में, सर्वहितकारी प्रवृ ि में समाज के आगे-आगे चलकर सबको अपने साथ ले चलने की योग्यता तथा शक्ति रखते हैं, वही आदर्श नेता है।

जो अपना आहार-विहार, व्यवहार और आधार, सबका ध्यान रखकर, सबके साथ मिले रहकर, निश्चित रखते हैं जिसमें अहिंसा-व्रत, सत्य-व्रत की रक्षा होती है, जिससे चोरी नहीं करनी पड़ती, और सबके साथ प्रीति की एकता बनी रहती है, ऐसी रीति-नीति जिनकी है, वही आदर्श नेता हैं।

जो दूसरों की योग्यता को, मन की दुर्बलताओं को, तथा प्रत्येक व्यक्ति के भावों, विचारों और कर्म के अन्तर की समझ लेने की शक्ति रखते हैं, तदनुसार ही सबके प्रति जो गम्भीरतापूर्वक, ोध उत्तेजना से अपने को बचाते हुए, सदा शान्त प्रसन्न रहकर सबके साथ व्यवहार निभाते हैं, वही आदर्श नेता हैं।

नेता के आदर्श जीवन में अर्थ एवं काम की लोलुपता, अभिमान की मादकता अथवा किसी प्रकार का अनावश्यक दुर्व्यसन जितनी मात्रा में अधिकार पा जाते हैं उतनी ही मात्रा में जीवन को अथवा नेतृत्वकला को कलंकित बना देते हैं।

आदर्श नेता वही हो सकता है– जो दूसरों को सुखी बनाने के लिए शक्ति से सम्बन्ि ात हो और अपने को सदा शान्त रखने के लिए सर्वव्यापक परमात्मा से सम्बन्धित हो, जो दूसरों को सत्प्रेरणा देने के लिये धर्म-शास्त्र,क र्तव्य-शास्त्रए वंध र्म-सम्मतर ाजनीतिक ास हाराल`ताह ो और अपने जीवन के लिये बीतराग विरक्त तत्वज्ञानी महापुरुषों का सहारा लेता हो, जो दूसरों के लिये सबको अपना मानकर सबके प्रति प्यार की भावना रखता हो और अपने हित के लिये सद्विवेक को अथवा विरक्त महापुरुष को अपना मानकर उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए उनके अनुशासन में रहता हो।

आदर्श नेता वही हो सकता है – जो दूसरों के लिये सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ा करता हो और अपने लिये किसी प्रकार की चिन्ता न करता हो; दूसरों के लिये विपुल सम्पत्ति एकत्रित करता हो, अपने लिये अर्थ-संग्रह का कट्टर विरोधी; जो दूसरों के लिये अधिक कुशलतापूर्वक बोलने की योग्यता रखता हो, अपने लिये प्रायः मौन रहने और मितभाषी अर्थात् बहुत कम बोलने में सन्तुष्ट रहता हो।

आदर्श नेता उसी को समझना चाहिए – जो दूसरों के लिये भरपूर प्रपंच का ज्ञान रखता हो और अपने लिये भरपूर परमार्थ-ज्ञान का आदर करता चलता हो; जो दूसरों को सुख देता होः अपने लिए सुखोपभोग का विरोध करते हुए, शान्ति चाहता हो।

आदर्श नेता वही हो सकता है – जो हानि होने पर सन्तोष धारण करता है, अपमान होने पर विनम्र रहता है, वियोग होने पर गम्भीरतापूर्वक शाश्वत आत्मा परमात्मा का चिन्तन करता है, विपि आने पर धैर्य से सामनाक रताह"क ष्टक ास हनक रल`नाअ पनाक र्तव्यस मझताह"। असफल होने पर अपनी दुर्बलता को दूर करता है, सफल होने पर परमात्मा से मिली हुई शक्ति का सदुपयोग समझता है, सुखद परिस्थिति में दूसरों की सेवा का अवसर खोजता है और दुखद परिस्थिति में सबसे दूर रहकर सुख से ही विरक्त हो जाता है।

आदर्श नेता किसी का मालिक नहीं बनता, स्वामी नहीं बनता; वह तो समाज का सेवक होता है। सबकी सेवा के लिये सब कुछ करता है। वह सेवक होकर दूसरों से सेवा नहीं लेता, निर्वाहमात्र के लिये अन्नवस्त्रादि की आवश्यक सहायता लेता है।

इस जग में जो कुछ करना है....

इस जग में जो कुछ करना है,
तुम बुद्धि पूर्वक जान लो।।
नश्वर तन में रहने वाले,
अविनाशी को पहचान लो।।
कोई दूसरा करै न करै पर,
तुम नेकी करते जाओ।
देखो न किसी के दोष कहीं,
सब के गुण ही गुण छान लो।।
जो कुछ दोगे वह कई गुना,
बढ़ कर तुमको मिल जायगा।
दुख दो न किसी को सुख ही दो,
परहित का ही व्रत ठान लो।।
जो कुछ भी तुमको मिला हुआ,
उसका ही सदुपयोग कर लो।
बिन माँगे मिलता जायेगा,
लघुता छोड़ो गुरु ज्ञान लो।।
जो वस्तु तुम्हें दिखती अपनी,
वह साथ नहीं रह जायेगी।
तुम पथिक प्रेम मय परमेश्वर को,
सब विधि अपना मान लो।।

सन्त महात्मा की देह को ही न पूजते रहो, उनकी बुद्धि में जो ज्ञान प्रकाशित है, उनमें जो दैवी गुण है उनकी उपासना करो।

सन्त सद्‌गुरु में जो प्रकाश ज्ञान का दीख रहा है, उस प्रकाश को ही न देखते रहो; बल्कि, उस प्रकाश में अपने जीवन को देखो, जीवन की गति को और जीवन के लक्ष्य को देखो। उस ज्ञान-प्रकाश में सद्‌गति, परम गति, मुक्ति और भक्ति प्राप्त करो। कहना-सुनना बहुत सुगम है पर ऐसा करना सब के लिये सुगम नहीं है; क्योंकि पूर्ण त्याग के बिना, तप के बिना, प्रेम के बिना, कोई परमगति तथा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

लोभ, मोह, अभिमान तथा सुखोपभोग की कामना, हिन्सा, द्वेष, ोध, आलस्य, प्रमाद, दूसरों को दुःख पहुँचाना, विवेक का अनादर करना, यही सब दुःख देने वाले दोष हैं।

संसार में मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी मानने से दोषों की पुष्टि होती है, परमेश्वर से मिली हुई जानने से दोषों की निवृ ि हो सकती है।

दोष मिटने पर ही दुखों का अन्त होता है। दुःखों से नहीं डरना चाहिये, दोषों से डरना चाहिये। जो दुखों से डरता है, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता, वह त्यागी, तपस्वी, प्रेमी नहीं हो सकता।

जप, पूजा-पाठ या अन्य सभी साधन दोषों का ज्ञान प्राप्त करने और उन्हें मिटाने के लिये हैं।

जिस प्रकार भोग के लिये जीवन साधन बना है, उसी प्रकार योग के लिये भी जीवन को साधन बनाना ही होगा।

त्याग और प्रेम के द्वारा सारे दोष मिटते हैं, सारे सद्‌गुण पुष्ट होते हैं, अतः त्याग प्रेम को पूर्ण करो। मन से राग हुआ है, उसी मन से राग-द्वेष आदि दोषों का त्याग करना है। राग ही त्याग नहीं होने देता।

कर्म करते हुए सावधान रहो। एक इट के पर इट रखने से बड़ा भवन तैयार होता है; उसी प्रकार कर्म के पर कर्म करने से भाग्य-भवन तैयार होता है, उसी में रहना पड़ेगा। आप जैसा भोग चाहते हो वैसे ही कर्म करो। जितने ँचे पुण्य होंगे, उतने ही उत्कृष्ट भोग मिलेंगे।

जैसा दोगे, वैसा ही पाओगे, अतः देते हुए सावधान रहो। शुभ सुन्दर प्रिय ही दो, अप्रिय, असुन्दर, अशुभ न दो।

आप संसार में उसी प्रकार रहो, जिस प्रकार धर्मशाला, होस्टल में रहते हो। वहाँ रहते हुए अपना कुछ नहीं मानते; इसीलिये मोह, ममता, अभिमान, लोभादि दोषों की वृद्धि नहीं होती।

धन की रक्षा उसी प्रकार करो—जैसे कोषाध्यक्ष खजांची करता है। रोगी की सेवा उसी लगन से करो जैसे नर्स करती है। बच्चों का पालन

विवेक के प्रकाश में

जिसके जीवन में जितना अधिक विवेक जाग्रत होगा उतना ही अधिक ँचा श्रेष्ठ जीवन उसका होगा। जिसको अपने में विवेक की कमी प्रतीत हो, उसे उसकी वृद्धि के लिए साधु-सज्जन, महात्मा का संग करना चाहिए। साधु-सन्त का संग भगवान् की कृपा से स्वतः ही मिल जाता है।

बुद्धिमान पाठकों ! यदि आपको अपने से अधिक श्रेष्ठ विचारवान साधु महापुरुष का सुसंग सुलभ हुआ हो, तो उनके समीप बैठकर दो बातों का ज्ञान प्राप्त करो :— १ अपने लक्ष्य का ज्ञान २ लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो शक्ति प्राप्त है और जो कुछ भी योग्यता सुलभ है, उसके सदुपयोग का ज्ञान— बस इन दो बातों का ज्ञान होने पर जीवन सार्थक हो जायगा।

अपने में कोई कमी न रह जाय, अर्थात् पूर्णता की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। लक्ष्य तक वही पहुँच पाता है, जो भाग्यवश परिस्थिति का सदुपयोग करता है।

सुखी दशा में सेवा करना और दुखी दशा में संसार से विरक्त हो जाना, चाहों का त्याग करना, भगवान की शरण लेना, यही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है।

सदुपयोगक`ेज्ञ ानक`े लिएस त्संगक ीअ ावश्यकताह`ै ।स त्संगक ा अधिकारी वही है जो असत् संग से पूर्ण दुखी हो।

असत् वस्तु के प्रति लोभ, मोह, अभिमान न रहे, यही सत्संग का लाभ है।

अपने दोषों को देखना और उन्हें दूर करना— यही सत्संग, प्रेमी का पुरुषार्थ है।

अपने बनाये दोष दूसरा कोई दूर न कर सकेगा। दोषों की निवृत्ति के लिये सभी स्वतन्त्र हैं, किन्तु सुख की आसक्ति दोषों का त्याग करने में बाधक बनती है।

दूसरों के दोष न देखो, उससे और अधिक दोष की पुष्टि होगी। अपने ही दोष देखो, क्योंकि अपने दोषों का ही त्याग कर सकते हो, दूसरे को त्यागी नहीं बना सकते।

जहाँ-कहीं गुण देखो तब वह गुण उस व्यक्ति के समझो; क्योंकि ऐसा समझने से उस व्यक्ति से मोह बढ़ेगा। इसीलिये गुण तो उस गुण-निधान एक परमात्मा के ही समझो। परमात्मा के ही प्रेमी बनो।

सन्तों, महापुरुषों में जो पवित्र ज्ञान है, प्रेम है, जो दैवी गुण हैं, वह सब उसी गुणागार, करुणासागर, प्रेमसागर परमात्मा के ही हैं।

उसी प्रकार करो जैसे धाय अपना न मानकर करती है।

संसार की दासता मन से निकाल दो, यही त्याग है।

भगवान को अपने से भिन्न न मानो, यही प्रेम है।

सब प्रकार से भगवान के ही होकर उन्हीं के नाते सब काम करो, यही भजन, भक्ति है।

किसी से कुछ पाने की आशा न रक्खो, कहीं अपना सुख निर्भर न करो, यही मुक्ति है।

मन विकारी होने से शरीर विकारी हो जाता है। जिस दुःख को रो-रोकर अनिच्छापूर्वक सहोगे तब रोगी समझे जाओगे, उसी दुःख को यदि धीरज से स्वेच्छापूर्वक सहोगे तब तपस्वी हो जाओगे। तप से अशुभ कर्म का अन्त हो जाता है।

भगवान में मन लगाना चाहते हो तो भगवान से ही ममता करो। जहाँ ममता होती है, वहीं मन जाता है, ममता न होगी तो मन न जायगा।

भजन, तीर्थ, पूजा-पाठ, जप, साधन, मनमुखी होकर न करो क्योंकि इससे अभिमान की ही पुष्टि होगी; अतः गुरुमुख होकर अर्थात् गुरु से सम्मति लेकर समझ बूझकर साधन, भजन करो।

प्यार चाहते हो तो दूसरों के काम आओ। मान चाहते हो तो सद्गुणों का तथा योग्यता का व्यवहार में परिचय दो। जितना ही आप अहंकार, अभिमान की रक्षा करना चाहोगे उतना ही दुःखी, दुराग्रही और अपराधी होते जाओगे; इसीलिए मोह-ममता में न टिको बल्कि प्रेमपूर्ण समता में टिको।

अपने में ही अपने प्रियतम प्रभु की स्थापना कर लो और सर्वस्व उन्हीं के अर्पण कर दो। कभी बेकाम न रहो, संसार की सेवा और भगवत्-चिन्तन करते रहो। चिन्तन के लिए आगे-पीछे का चिन्तन छोड़ दो। चिन्तन त्याग के लिए सुख-दुःख के बन्धन से मन को मुक्त कर लो।

सम्बन्ध से प्रीति और त्याग से आनन्द मिलता है। मन से सुखोपभोग की चाह ही भक्ति को, ज्ञान को, योग को, त्याग को, तप को पूर्ण नहीं होने देती।

भोग-सुखों की चाह का त्याग करने पर चित्त शुद्ध होता है।

अपनी रुचि-पूर्ति में रस लेते रहना, स्वार्थ से ही चिपटे रहना-बुद्धिहीनता का परिचय है। बुद्धिमत्ता एवं विवेक वही है जो सुखोपभोग से विरागी बना दे।

संसार का और अपने प्रेमास्पद का प्रेम पाने के लिए सेवा ही सुगम उपाय है। पुण्यकर्म से त्याग तथा दान की शक्ति आती है और त्याग तथा दान से सेवा करने की योग्यता पूर्ण होती है। अपने को सेवक स्वीकार

करने से सेवा स्वतः होने लगती है।

अध्यापक को, धर्मोपदेश को, व्यवस्थापक को, प्रबन्धक को अथवा जिसके नीचे अधिक आदमी कार्य करते हैं ऐसे पदाधिकारी ओवरसियर आदि को अवश्य ही स्वावलम्बी होना चाहिये।

जब तक कोई बलवान व्यक्ति लंगड़ा, अपाहिज न हो जाय तब तक उसे श्रम करते रहना चाहिए।

जो अपने सुख का ध्यान रखता है वह अपने को पकड़े हुए है; इसी प्रकार जो किसी वस्तु या व्यक्ति से सुख की आशा रखता है, वह उस वस्तु या व्यक्ति को पकड़े हुए है। जो जिसे पकड़े हुए है, उसी के बन्धन से वह जकड़ा हुआ है।

दूसरों के संकल्पों को पूरा करते हुए कोई भी अपनी चाहों से छुटकारा पा सकता है। स्वयं चाह का त्याग करना, दूसरों की चाह को पूरा करना— यही कल्याण का साधन है।

दूसरों को शरीर की सेवा में लगाना स्वार्थ है।

शरीर को दूसरों की सेवा में लगाना सेवा है।

जब तक कोई अपने को देह मानता रहेगा तब तक वस्तुओं, व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं टूटेगा।

जब तक अनुकूलता का लालच है, प्रतिकूलता का भय है तबतक मन का क्षोभ नहीं मिटता और क्षोभ की दशा में कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

सुख में सावधान और दुःख में धैर्य रखनेवाले व्यक्ति पापों, अपराधों से बचतेह ुएउ च्चप दप ्राप्तक रतेह ैं ।य ा त ाेद ुःखक ाअ ादरक रतेह ुए भगवान का भक्त हो जाना चाहिये, या सुख का वितरण करते हुए सेवक हो जाना चाहिए, या फिर संसार को माया-मात्र जानकर, सब-कुछ मिटता हुआ समझकर, सबसे असंग होकर मुक्ति प्राप्त करना चाहिये।

परमात्मा की बुद्धि ही गणेश है, सूर्य ही चक्षु है, शिव ही आत्मा है और प्रकृति शक्ति है। पापरहित होने पर परमात्मा से प्रेम होता है। मन से वस्तुओं का चिन्तन हटने पर स्वतः ध्यान होता है।

जिसकी बुद्धि शुद्ध है, चि ा शान्त है, उसके लिए दुःख भी सुखरूप हो जाते हैं।

जितना अधिक विवेक किसी में होता है। उतना ही अपने दोषों का दर्शन होता है। संगासक्ति से ही सारे दोष बढ़ते हैं।

जो-कुछ इन्द्रियों से प्रतीत होता है उसे सत्य न मानने से बुद्धि शुद्ध होती है। जो कुछ अपने पास नहीं है, दूसरों के पास है, उसकी इच्छा करने से मन शुद्ध होता है। किसी का बुरा न चाहने से चि ा शुद्ध होता है। केवल

एक राज्य-कर्मचारी कहीं कर्तव्यपालन करते हुए राज्य के जितने अधिकार को अपना नहीं मानता, वहाँ तक उसे भी अहंकार नहीं होता। उसी प्रकार, कर्तव्य परायण प्रेमियों ! आप भी मिले हुए तन, धन, सम्बन्धी, अधिकार को अपना मान कर अपने कर्तव्य को पूर्ण करते रहो।

अपना निरीक्षण करो और देखो! कदाचित् आपके मन में स्वावलम्बी, परोपकारी, सदाचारी, दानी, त्यागी होने की इच्छा है, तो वह व्यक्तित्व की अर्थात् अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए है या अपने दोष मिटाने के लिए अथवा उऋण होने के लिए है?

सदाचार से, परोपकार से, त्याग तथा दान आदि शुभ कमो से एवं पवित्र भावों-विचारों से व्यक्तित्व में सुन्दरता आनी चाहिए। सुन्दर व्यक्ति वही है, जिसमें लोभ, मोह, अभिमान, द्वेषादि विकारों का अभाव हो और जो सहज ही उदार, प्रेमी, विनम्र, परोपकारी, आस्तिक हो।

जिसकी प्रीति सीमित वस्तुओं में अथवा सांसारिक सम्बन्धियों में फँसी है, वह ममता के बन्धन में है; जो वस्तुओं, व्यक्तियों में ममता रखता है वह संघर्ष और अन्त में अशान्ति से नहीं बच सकता।

जिसकी प्रीति सीमित से हटकर असीम से हो गई है, वही असीम प्यार, नित्य जीवन तथा असीम सामर्थ्य एवं अखण्ड आनन्द का अनुभव कर सके हैं।

जैसा संग होता है, वैसा ही चाह होती है—शरीर के संग से भोजन और आराम की चाह होती है, इन्द्रियों के संग से विषय-रस की चाह होती है, मन के संग से विविध रुचि-पूर्ति की चाह प्रबल रहती है— इसी प्रकार बुद्धि के संग से विविध ज्ञान-विज्ञान की चाह आगे रहती है। जब सब का संग छूट जाता है, तब बुद्धि से पर उठकर असंग अवस्था में कोई भी चाह नहीं रहती है।

चाहरहित होने पर सत्य से प्रेम स्वतः ही हो जाता है। योग स्वतः हो जाता है। सुख की चाह त्याग करने पर किसी प्रकार के संग्रह की रुचि नहीं रहती, संग्रह रहित होने पर संघर्ष समाप्त होता है और सिद्धि मिलती है; वहाँ ममता, पराधीनता रह ही नहीं जाती।

ममता में सभी प्रकार दुःख है, ममतारहित होने में परम सुख है।

किसी वस्तु से या किसी व्यक्ति से ममता का अर्थ है, उसे अपने पर चढ़ा लेना और हर समय उसे लादे रहना। सोचकर देखो! एक व्यक्ति रुपये का मूल्य अधिक बढ़ाकर प्राप्त धन से ममता करता है, तब जहाँ-कहीं रहता है, वह धन उसके मन में लदा रहता है। इसी प्रकार व्यक्तियों से ममता होने के कारण वह सम्बन् ी दूर रहने पर भी मन में लदे रहते हैं।

आत्मा-परमात्मा को ही अपना प्रेमपात्र समझने से अहं शुद्ध होता है।

जिस प्रकार कागज के नोट में रुपये दिखाई देते हैं उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाले को इस सृष्टि में परमात्मा दिखाई देता है। जिस प्रकार शब्द का अर्थ होता है उसी प्रकार इस सृष्टि का अर्थ परमात्मा है।

सुख की आशा सुख-भोग से भी भयंकर है। जो विनाशी वस्तु से सुख की आशा करता है, उसीसे सम्बन्ध जोड़ लेता है, वह निश्चत ही दुःख को आमन्त्रित कर चुका है।

सम्बन्ध के जोड़ने और तोड़ने में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। सम्बन्ध से ही सारे भेद हैं, भेदभाव से ही सारे संघर्ष हैं।

बुद्धिमान पुरूष संसार की चिन्ता नहीं करते, अपनी मुक्ति की करते हैं। मुक्ति की चिन्ता ही त्यागी, दानी, सेवापरायण बनाती है।

जो संसार में मान, बड़ाई के लिए इधर-उधर दौड़ता है, वह प्रभु की कृपा से दूर रहता है।

कामी, ोधी, लोभी, आलसी भी कहीं-कहीं तप, दान, पुण्य कर सकता है; परन्तु प्रभु का भक्त नहीं हो सकता, प्रेमी नहीं हो सकता है।

प्रभु का प्रेमी वही हो पाता है जिसका किसी अन्य पर विश्वास न हो। जिसकी आवश्यकता होगी उसी से प्रीति होगी। जिससे प्रीति हो जाती है उसी को छोड़ना कठिन प्रतीत होता है।

जिस बुद्धिमान मनुष्य में इतनी अच्छी समझ आ जाती है कि प्रारब्ध से मिले हुए शरीर, बल, धन तथा सम्बन्ध का सेवा में सदुपयोग करता रहता है, साथ ही दूसरों के पास जो कुछ भी अधिक सुन्दर है, उसे देखकर पाने की इच्छा नहीं करता, वही अनेकों पापों, अपराधों से अथवा हिंसा से बच जाता है।

दूसरों के पास अधिक सुखद वस्तुएँ देखकर उनकी प्राप्ति का संकल्प करनेवालाम नुष्यहिंसास`,प ापस`न हींब चस कताअ ौरए`सा॰ यक्ति परमार्थ के पथ में नहीं बढ़ सकता।

वस्तुओं का लोभ तथा सम्बन्धियों से मोह एवं अधिकार का अभिमान मनुष्य के कल्याण में बाधक है। मोह के रहते सत्य से प्रेम हो ही नहीं सकता।

मोह, लोभ तथा अभिमान त्याग के लिए यह युक्ति बहुत ही उत्तम है कि किसी वस्तु को एवं व्यक्ति को और अधिकार को अपना न मानो। कोई कोषाध्यक्ष खजांची जितने धन को अपना नहीं मानता उतने के प्रति लोभ नहीं होता। एक नर्स अथवा धाय रोगी की सेवा करते हुए, बालक को दूध पिलाते हुए उसे अपना नहीं मानती; इसीलिए रोगियों के प्रति या नवजात शिशु के प्रति अपना ही पुत्र है — ऐसा मोह नहीं होता।

पैसे-रुपये का या किसी सुखोपभोग का अथवा अधिकार का मूल्य बढ़ाने के कारण, एक बुद्धिमान पुरुष भी अपने को दीन-हीन, निर्धन नौकर मानता है; और जिन्हें कुछ सम्पत्ति सुलभ है, या सुखोपभोग सुलभ हैं, वह उनसे ममता रखने के कारण अपने को धनी-सम्पन्न मानते हुए, लोभी-अभिमानी होकर, राग-द्वेषयुक्त विषम व्यवहार करते हैं।

ध्यान रखने योग्य यह गुरु-सम्मति है कि जो कुछ शुभ, सुन्दर, पवित्र है, उसकी उत्पत्ति अनन्त से हुई है; उसकी स्थिति भी अनन्त में ही है और उसका लय भी अनन्त में ही होता रहता है। उसी अनन्त का विधान है कि जो अनन्त से मिली हुई शक्ति, सम्पत्ति का सदुपयोग करेगा, उसे अधिक शुभ, सुन्दर मिलता ही जायगा।

आपको अपने जीवन में यदि किसी का मूल्य अर्थात् महत्व ही बढ़ाना है, तो आप वस्तु, व्यक्ति की अपेक्षा विवेक का और सत्यका ही महत्व बढ़ाइये। विवेक के द्वारा ही आप मोह, लोभ के बन्धन से छूट सकते हैं, तभी समता आ सकती है; और समता प्राप्त करने पर ही संघर्ष का अन्त हो सकता है; तभी शांति सुलभ हो सकती है।

जीवन का सर्वभावेन सुधार तभी हो सकता है, जब भोग में व्यय होने वाली सभी प्रकार की शक्तियों का दूसरों की सेवा में सदुपयोग किया जाय या फिर, जहाँ तक भलाई-बुराई विवेक प्राप्त है वहाँ तक बुराई का त्याग कर भलाई को ग्रहण कर विवेक का आदर किया जाय। यदि यह भी न हो सके, तो सब प्रकार का अभिमान छोड़कर प्रभु-कृपा का ही आश्रम लिया जाय।

कृपा का सहारा निर्बल ही ले पाता है। जो अपने जीवन में किस प्रकार का बल देखता ही नहीं वही निर्बल है। सीमित बल के अभिमान से मुक्त होकर ही कोई असीम का बल प्राप्त कर पाता है। जिसके पास कुछ भी नहीं होता, वही सब-कुछ के स्वामी से कृपा प्राप्त करता है।

आपको जैसी योग्यता, जैसे सम्बन्ध, जैसा शरीर प्राप्त है– यही आपकी परिस्थिति है। परिस्थिति के भोग से अपने को सुख मिलता है और उसके सदुपयोग से अपना तथा दूसरों का हित होता है, साथ ही प्रसन्नता प्राप्त होती है और गुणों का विकास होता है।

परिस्थिति की निन्दा न करो; क्योंकि उसके सदुपयोग से लाभ होगा; उसकी स्तुति न करो; क्योंकि वह सदा रहेगी नहीं।

परिस्थिति के सदुपयोग से विरक्ति आती है, उपभोग से आसक्ति बढ़ती है। परिस्थिति का सदुपयोग न करने वाले अविवेकी बने रहेंगे, जिज्ञासु न हो सकेंगे, वह मोही बने रहेंगे, प्रेमी न हो सकेंगे।

जो परिस्थिति का उपभोग करता है, वह संकीर्णता, जड़ता में आबद्ध

होता है और जो दूसरों को सुख देता है, उसका जीवन व्यापक होता जाता है।

बुद्धिमान मानव परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए सबसे असंग बनते हैं, वह ममता चाह तथा चिन्ता से मुक्त होकर सत्य परमात्मा के योगी होते हैं।

विचार करो और देखो, आप क्या कर रहे हो और स्वयं क्या हो रहा है। ध्यान रक्खो, दूसरों के प्रति जो-कुछ करना चाहिए वही आपका कर्तव्य है। आप स्वयं जो कुछ दूसरों से आशा रखते हैं वही आपको भी दूसरों के लिये करना चाहिये जो कुछ दूसरों के प्रति करना चाहिए उसमें आप क्या-क्या नहीं कर रहे हैं।

जो कुछ स्वतः हो रहा है, सावधान होकर उसके कर्ता को जानो, यही सब तुम्हारा कर्तव्य है।

अपनी आवश्यकता को जानो, इच्छाओं को देखो और अभिलाषा को सदा के लिये पहिचान लो। अभिलाषा, जीवन में पूर्णता प्राप्त करने की है अथवा परमानन्द प्राप्त करने की है, आवश्यकता न्यायपूर्वक जीवन-निर्वाह करते रहने की है और इच्छाएं तो नित्य नये सुखोपभोग की हैं।

यह कभी न कहो कि हम कुछ नहीं कर सकते। जो कुछ नहीं कर सकता, वह बुराई भी नहीं कर सकता। जो भूल कर सकता है, वह भूल सुधार भी सकता है।

जो कामना अपनी पूर्ति के लिए मानव मन को मोहित करती है, वह कितनी भयानक सिद्ध होती है। इसे बिरले ही विद्वान जानते हैं। कामना में कुछ क्षण भी नहीं लगते किन्तु उसकी पूर्ति में वषो लग जाते है; उसकी पूर्ति के बीच में ही सहस्रों लाखों कामनाएं उठती रहती हैं—इसीलिये यह भी सावधान होकर समझने की बात है कि कामनाओं की पूर्ति में कभी शान्ति मिलेगी नहीं, कुछ देर के लिये पूर्ति का सुख भले ही मिलता जायेगा। कामना-पूर्ति का सुख उतनी ही देर प्रतीत होगा जितनी देर कोई दूसरी इच्छा उत्पन्न न होगी। अतः जो व्यक्ति शान्ति का अभिलाषी हो उसे कामना के त्याग का ही संकल्प करना चाहिये। कामनाओं के त्याग के लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है; परन्तु सुख की आसक्ति त्याग नहीं करने देती और सुख के प्रति आसक्ति तब तक प्रबल रहती है जब-तक सुख से अधिक दुःख नहीं बढ़ जाता।

कामना से मुक्त हुए बिना मन निर्विकार नहीं हो सकता। कामना से ज्ञान ढक जाता है। कामना से अधीर न होकर धैर्यपूर्वक शुभकर्म से, सद्ज्ञान से और उपासना से भोग तथा मोक्ष दोनों मिलते हैं। जब कामना प्रबल होती है या घबराहट होती है, तब चित चंचल हो जाता है। चंचल

चित्त को वश में लाने के लिये शुभ कर्म या ज्ञान और उपासना ही सर्वोत्तम साधन है।

प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार के संस्कार होते हैं– एक द्रव्य संस्कार, जो कि तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी आहार के अनुसार बनते हैं; दूसरे भाव संस्कार, जो कि संग अथवा प्रेरणा के अनुसार दृढ़ होते हैं।

आहार-परिवर्तन से द्रव्य-संस्कार बदल जाते हैं और संग-परिवर्तन से भाव-संस्कार में परिवर्तन हो जाता है।

प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को अपने संस्कारों को शुद्ध बनाने के लिये सात्विक आहार और सतोगुण प्रधान सज्जनों का संग अवश्य ही करना चाहिये।

आहार उसे ही कहते हैं जिससे प्राणों की तृप्ति होती है। आहार का अर्थ अन्न, फल, जल तो है ही; इसके अतिरिक्त रूपरस, शब्द रस, स्पर्श रस, गन्ध रस, भान का रस अर्थात् मन के स्तर से इच्छाओं की पूर्ति भी आहार ही है।

जिस प्रकार आहार देते रहने से ही शरीर पुष्ट रहता है। उसी प्रकार अपना-अपना आहार पाते रहने से इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहंकार भी बलवान होता रहता है। जिस अंग को आहार नहीं मिलेगा, वही बलहीन हो जायगा।

विवेकी सज्जन जिसे पुष्ट, बलयुक्त रखना चाहते हैं, उसे यथोचित आहार देते हैं, जिसे निर्बल बनाना चाहते हैं, उसे उसका आहार नहीं देते।

सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी, आहार अर्थात् विषय-रस के अनुसार द्रव्य अथवा शक्तिकण बनते हैं। उन्हीं संचित द्रव्यों से शरीर बनते हैं और उन शरीरों की गति अथवा उनकी ि या संग एवं प्रेरणा के अनुसार होती है।

सौभाग्यशाली पवित्र जीवन उसी का है जो सदा से ही पवित्र प्रेरणा पाता आ रहा है साथ ही जिसका संग उत्तम है और साथ ही आहार भी शुद्ध है।

जिसके चित्त में संगानुसार जो संस्कार होते हैं उन संस्कारों की पूर्ति उसी गति से होती है जितनी प्राण शक्ति होती है।

अच्छे संस्कारों की पूर्ति के लिये प्राण शक्ति संचित होना अनिवार्य है और प्राण शक्ति का संचय तभी संभव है जब वीर्य संचित हो; वीर्य सुरक्षित रहना तभी सम्भव है जब इन्द्रियों के विषय-रसास्वाद के लिये मन चंचल न हो।

मन, प्राण और वीर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों में से एक का चंचल होना ही अन्य दोनों को चंचल बना देता है। मन, प्राण तथा वीर्य की

चंचलता को रोकने के लिये किसी भी एक को स्ववश कर लेना ही संयम की सफलता का उपाय है। मन की शक्ति प्राण है और प्राण की शक्ति वीर्य है। वीर्य की स्थिरता में प्राण बलवान रहते हैं। प्राण-शक्ति की प्रबलता में संकल्प-पूर्ति के लिये मन शक्तिशाली होता है।

कल्याण दुखी जीवन का यह,
भगवान न जाने कब होगा।

कल्याण दुखी जीवन का यह भगवान न जाने कब होगा।
जिससे भवभ्रान्ति मिटा करती वह ज्ञान न जाने कब होगा।।

जिससे निज दोष दिखा करते पापों, अपराधों से डरते।
उस सद्विवेक का मानव में सन्मान न जाने कब होगा।।

अच्छे दिन बीते जाते हैं गुरुजन सब विधि समझाते हैं।
भोगस्थल से योगस्थल में प्रस्थान न जाने कब होगा।।

शीतलता जिससे आती है सारी अतृप्ति मिट जाती है।
वह नित्य प्राप्त है प्रेम सुधा पर पान न जाने कब होगा।।

यद्यपि हैं सभी सुलभ साधन सोचते यही हैं मन ही मन।
जिससे कि 'पथिक' प्रभुमय होवे वह ध्यान न जाने कब होगा।।

कर्म

सत्य, असत्य–यही दो प्रकार के कर्म हैं। परमात्मा से सम्बन्धित कर्म सत्य-कर्म हैं, संसार तथा भोग से सम्बन्धित कर्म असत्-कर्म हैं।

जिससे किसी का अहित न होकर दूसरों को प्रसन्नता हो, साथ ही हित हो, वही शुभ कर्म है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जानना, ज्ञान की कमी को दूर करते जाना अथवा जो-कुछ असत् है या असत् का प्रकाशक जो सत् है उसे जानना, ज्ञान है। सत्य परमात्मा अथवा देह, इन्द्रिय, मन के प्रकाशक आत्मा के निकट अपनी बुद्धि को रखना अर्थात् भगवान में ही मन

यदि तुम आस्तिक हो, तो सदा प्रसन्न, निर्भय, निश्चिन्त रहना चाहिए और सबको भी रखना चाहिए। कभी खिन्न, उदास होकर न बैठो; क्योंकि इससे काम प्रबल होता है और वह अपनी पूर्ति के लिये मनुष्य को पागल की भांति नचाता है, सारी शक्ति को व्यर्थ बनादेता है, जीवन जर्जर हो जाता है।

जो प्राप्त नहीं, उसकी कामना ही त्याग दो। जो मिला है, उसी का सदुपयोग करो। मोहवश अपनी ही पूर्ति न चाहो। जिनका तुम पर अधिकार है, उनकी पूर्ति करते हुए अपने में प्रेम की पवित्रता पूर्ण होने हो।

प्रेम में कोई पराधीन नहीं है और मोह में कोई स्वाधीन नहीं है।

पाठक सज्जनों ! इन छोटे-छोटे शब्दो को पढ़ते ही न चले जाओ, गम्भीरतापूर्वक अर्थ और भाव पर विचार करो।

मोह की, राग की, निवृत्ति के लिये कर्तव्य पालन करते रहो। जो प्राणी कुछ लेना चाहते हैं, वे प्रेम नहीं कर सकते। लेते रहनेवाले, बचाकर संग्रह करने वाले जब दान न करेंगे तब दरिद्रता ही बढ़ती जायेगी।

दान द्वारा लोभ के त्याग से दरिद्रता दूर हो जाती है। देने वाले को देने के लिए कुछ न कुछ मिलता ही रहता है; किन्तु लेनेवाले का, संग्रह करने वाले का, सब कुछ एक दिन छिन जाता है। लिए हुए को देते रहना कर्तव्य है।

जो-कुछ अकर्तव्य है, उसे रोके बिना कर्तव्य पालन की योग्यता नहीं आती। कर्तव्य-पालन वही करता है, जिसे अपनी उन्नति का सही ज्ञान है।

जो-कुछ करने से उत्तम भोग, परमात्मा का योग तथा यथार्थ ज्ञान एवं प्रेम सुलभ हो, वही सच्ची उन्नति है और वही वास्तविक साधन है।

जब किसी पर दृष्टि न रहेगी, तभी योग होगा। जब किसी से सम्बन्ध न रहेगा, तभी प्रेम होगा।

जिसे देख नहीं पाते उस पर विश्वास करो, जिसे देखते हो उसे जानो अर्थात् ज्ञान प्राप्त करो, जो कोई सामने हो उसकी सेवा करो।

अभी तुम जिसे स्वीकार कर चुके हो उसी पर विश्वास है, जिस पर तुम्हें विश्वास है उसी से सम्बन्ध है, जिससे सम्बन्ध है उसी की निरन्तर स्मृति है, जिसकी स्मृति है उसी से तुम्हारी प्रीति है।

विश्वास उसी पर करना चाहिए, जिसके विषय में सुना तो है पर देखा नहीं— ऐसा विश्वास करने योग्य भगवान ही हैं और कोई नहीं। यदि भगवानप रअ र्थात्प रमेश्वरप र विश्वासह ोज ायत भीस म्बन्धह ोगा; सम्बन्ध होने पर उसी का सदा स्मरण रहेगा; स्मरण रहने पर अनुरक्ति दृढ़ होगी; अनुरक्ति की दृढ़ता होने पर ही योग होगा।

ईश्वर पर विश्वास रखनेवाला वही भक्त है, जो ईश्वर-विधान का कहीं

को लगाये रहना उपासना है।

सुख की कामना को छोड़े बिना अखण्ड आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। सुख से तृप्त होने के लिए ही प्राणी स्त्री में, धन में, विद्या में, यश में, राज्य-ऐश्वर्य में, अधिकार में, मोहित एवं आसक्त हो रहे हैं; यही सब आत्मा से विमुख बनानेवाले हैं; इन्हीं के कारण अनेकों क्लेश, दुःख, श्रम, चिन्ता, भय, मनुष्य को घेरे रहते हैं।

जो मानव धीरज रखकर सुख की कामना छोड़ कर अपना कर्तव्य पालन करता है, वही सर्वोपरि उन्नति प्राप्त करता है। निष्काम कर्तव्य-कर्म परमात्मा से सम्बन्धित बनाते हैं।

जिनके पापों का अन्त पुण्य कमो के द्वारा हो जाता है, उन्हीं के दय में परमेश्वर के प्रति प्रेम प्रबल हो सकता है।

भगवत् प्रेम के लिए चित्त का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है और चित्त की शुद्धि के लिए स्वधर्मानुष्ठान एवं कर्तव्य पालन आवश्यक है।

स्वधर्मानुसार अपने कर्तव्य पालन में तत्पर मानव का चित्त जितना ही शान्त निर्मल होता जाता है, उतना ही वह काम, ोध, तृष्णा, ईर्ष्या-द्वेष, अभिमान आदि अग्नियों के ताप से दूर रहता है। काम, ोध, ईर्ष्या-द्वेषादि अग्नियों से प्राणी स्वयं तो जलता ही है दूसरों को भी जलाता है।

आज सन्तों, महात्माओं, विद्वानों के उपदेशों द्वारा इन्हीं अग्नियों को बुझाने का प्रयत्न चल रहा है।

साधारण व्यक्ति आग बुझाने का संकल्प लेकर और भी नई-नई आग लगाते फिरते हैं। स्वयं अपने भीतर की आग बुझा नहीं पाते, दूसरों की बुझाने दौड़ते हैं।

यदि तुम्हें भी दूसरों को जलते देखकर दया आ रही है, तो अपने भीतर झांककर देख लो कि तुम्हारा दय तो पूर्णतया शीतल हो रहा या नहीं? तुम्हारे शीतल दय में किसी जलने वाले का प्रभाव तो नहीं पड़ रहा है? तुम्हें इतना शीतल होना चाहिए कि तुम्हारे निकटतामात्र से जलनेवाले को शान्ति मिलने लगे।

किसी दुखी प्राणी के प्रति जितने अधिक बार तुम्हें दया करने का अवसर अथवा अपना अनादर करनेवाले को क्षमा करने का अवसर, इसी प्रकार अभाव-पीड़ितों को जितना अधिक देने का अवसर, सहायता करने का अवसर तथा विनम्रता का अवसर और जितना ही अ िक प्रेमपूर्ण बर्ताव का अवसर मिलेगा, उतना ही अधिक तुम्हारा दय शीतल होगा। इस सत्य को अच्छी तरह समझ लेना।

जलने वाले दूसरों को जलाते हैं; जो स्वयं दय तल में शीतल हैं, वही दूसरों को भी शीतलता पहुँचाते हैं।

विरोध नहीं करता। जो स्वयं अपने भाग्य से असंतुष्ट रहता है, वह ईश्वरीय विधान से असंतुष्ट रहता है। ईश्वरीय विधान का आदर करते हुए संतुष्ट रहकर प्राप्त शक्ति का सेवा में सदुपयोग करने वाला ईश्वर का प्रेमी होता है।

अपने कर्तव्यपालन में जो असफलताएं दिखाई दें, उन्हें अपनी दुर्बलता की निवृत्ति में सहायक समझ कर उनसे घबराना न चाहिए; क्योंकि इससे मानसिक संतुलन ठीक हो जाता है। घबराहट से शक्ति और बुद्धि का दुरुपयोग होता है। तुम अपने मन के स्वभाव पर विवेक का शासन रक्खो। दोष के सामने गुण को स्थान दो। अभ्यास को विचार से रोको। वासना के सामने उच्च पात्र को ले आओ। यदि भोगों की वासना है तो उत्कृष्ट भोग प्राप्त करने के लिये तप करो, पुण्यों को संचित करो, जो कुछ तुच्छ है उसका त्याग करो।

इच्छाओं के दमन के लिये, फलासक्ति त्याग के लिये, दुःख-निवृत्ति के लिये तुम इधर-उधर शक्ति का अपव्यय न करके अपने भीतर या बाहर शब्द विहीन, दृश्यविहीन सत्य की शरण लो।

दूसरों की सेवा करते हुए निन्दा-स्तुति पर ध्यान न दो, दोषों को अपने भीतर देखते रहो, युक्ति के द्वारा उनके त्याग का प्रयत्न करो।

कामना करो तो परमात्मा की करो, अन्य किसी की नहीं। परमात्मा का किसी भी प्रकार से स्मरण करते ही उससे सम्बन्ध हो जाता है; क्योंकि वह जड़ नहीं है और दूर नहीं है।

विश्वास रक्खो कि वह तुम्हारे स्मरण को जानता है, वह स्मरण चाहे किसी भी नाम से हो, चाहे किसी रूप से हो, किसी देश-काल में हो, तुम्हारे स्मरण की यदि वह भूल सकता है, तो वह परमात्मा नहीं हो सकता।

यदि तुम अपनी आलोचना नहीं चाहते, तो तुम भी दूसरों की आलोचना न करो। यदि तुम भगवान से क्षमा चाहते हो, तो तुम भी दूसरे के अपराधों को क्षमा करो। यदि अपना पतन नहीं चाहते हो, तो दूसरों से मान की चाह छोड़ दो और विनम्र होकर रहो।

किसी को कटु शब्द न कहो। बाहर की स्वच्छता के साथ भीतर की स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। जिनका मन विकाररहित है, भाव तथा विचार जिनके शुद्ध रहते हैं, ऐसे पुरुष ही विद्वान हैं, श्रेष्ठ हैं।

संसार का भजन, धन का भजन, अधिकार का भजन, अपनी देह का भजन करने वाले प्रायः सभी प्राणी हैं; किन्तु परमात्मा का भजन करने वाले तो कोई बिरले ही पुरुष हैं। जिनकी दैवी प्रकृति है वही परमात्मा को भजते हैं। सेवा करना ही भजन है। सकाम चित्त वाले संसार का भजन करते हैं, निष्काम चित्त वाले निर्वाण-पद प्राप्त करते हैं, जो केवल भगवान को

चाहते हैं, उन्हीं को भगवान मिलते हैं।

यदि आगे जाना चाहते हो, तो झुककर संसार के बीच से मौन होकर निकल चलो अर्थात् दीनता, विनय धारण करो, तभी परमार्थ-सिद्धि प्राप्त कर सकोगे।

कठोर दयवालों के पीछे 'धिक', 'धिक' की और दयालु, विनयी पुरुषों के पीछे 'धन्य', 'धन्य', की ध्वनि होती रहती है।

धर्म-विरोधी, कर्तव्य-विमुख व्यक्ति को जो दण्ड स्थान मिलता है, वही चुगली करनेवाले को मिलता है।

तुम किसी के पीछे छिपकर उसके दोषों का वर्णन न करो। अपने सम्बन्धी, स्नेही के भूल या दोष सबके सामने प्रगट न करो। उलाहना न दो। कहना ही हो तो एकान्त में समझा दो। गम्भीर बुद्धिवाले विचारवान ऐसा ही करते हैं।

यदि तुम्हें अपने सत्य लक्ष्य को प्राप्त करना है, तो न किसी को शत्रु मानो, न मित्र मानो; बल्कि शत्रुता, मित्रता का बर्ताव करने वालों को एक समान अपना शिक्षक मानो और उनसे शिक्षा ले लो, तुम समत्व योगी बनो।

किसी प्रकार यदि तुम इच्छाओं से रहित हो सको, तो मुक्ति तथा शान्ति जहाँ चाहो वहीं प्राप्त कर सकते हो।

जिस प्रकार तुम देह के साथ एकात्मभाव स्थापित किये हुए हो, यदि उसी प्रकार परमात्मा-आत्मा के साथ एकात्मभाव दृढ़ कर सको, तो तुम्हें वह अविनाशी जीवन प्राप्त होगा, जहाँ मृत्यु का भय रह ही न जायगा।

तुम जितने भी साधन करते हो या आगे करोगे, उसके द्वारा यदि तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जाय, तो समझना होगा कि सिद्धि का द्वार मिल गया। यदि कहीं चित्त शुद्ध न हुआ और तुम्हें साक्षात् भगवान के दर्शन भी होने लगें, तब भी सावधान रहना होगा कि साधन अभी सफल नहीं हुआ है। बाहर भगवान राम का रूप दीखे और भीतर दय में काम का अधिकार रहे, तो साधन में सिद्धि नहीं हुई।

चित्त-शुद्धि तभी सम्भव है, जब बुद्धि में न्याय करने की शक्ति हो और दय में भरपूर प्रेम हो। न्याय की पुष्टि विवेक से होती है और प्रेम की पुष्टि क्षमा एवं उदारता से होती है।

कामना रहित होकर तप, सेवा, दान, पुण्य कर्म, उपासना करने से चित्त शुद्ध होता है।

सांसारिक भोग-सुख की इच्छाओं से चित्त मलिन होता है। इच्छाओं के त्याग से चित्त की शुद्धि होती है। आत्मा के निकट चित्त को रखने से इच्छाओं से निवृत्ति मिलती है।

संतों का सत्संग और सन्त-वाणी का अध्ययन चित्त शुद्धि में सहायक

है।

इस लोक या परलोक की कोई कामना जिसके चित्त को आकर्षित नहीं कर सकती, वही शुद्ध चित्त सम्पन्न ज्ञानी पुरुष है।

कामनारहित होने पर ही चित्त में शान्ति का अनुभव होता है। कामनायुक्त चित्त ही संसार में बार-बार जन्म लेता है, इधर–उधर भटकता है।

संसार का कुछ भी दृश्य सुन्दर प्रतीत होते ही चित्त उससे सम्बन्धित हो जाता है। चित्त भगवान में लग जाय–यही योग है।

चित्त संसार – दृश्य से असंग हो जाय– यही मुक्ति है। चित्त से भगवान् अपने दीखने लगें– यही प्रीति है।

संसार में वीर पुरुष या श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसने अपने चित्त से आशा और कामनाओं का त्याग कर दिया है।

विवेकी पुरुषों की दृष्टि में वह वैभव, ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति श्रेष्ठ पुरुष अथवा बड़ा आदमी नहीं है, जो भोग-सुखों की वासनाओं से विवश होकर नाच रहा है।

जब तक शरीर में आसक्ति है तब तक सन्तोष हो ही नहीं सकता, जब तक सन्तोष नहीं तब तक भक्ति, मुक्ति का द्वार भी नहीं मिलता।

सन्तोष धारण करने से किसी दिशा में गति रुक जाती है और गति में व्यय होने वाली शक्ति-वृत्ति कोई दूसरा मार्ग खोजने लगती है।

सुखोपभोग में सन्तोष शुभ है; किन्तु दान, अध्ययन, भजन, साधन में सन्तोष अशुभ है।

चाह मिटाने का नाम सन्तोष है। जितना कुछ अपने को प्राप्त हो उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है।

सांसारिक वस्तुओं में, सम्पत्ति में सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ शान्त हो जाता है। सन्तोष हो जाने पर ोध की निवृत्ति होती है। सन्तोष के द्वारा भोग-कामनाओं का त्याग करना सुगम हो जाता है।

सन्तोष, धैर्य, सहनशीलता, उदारता, नम्रता– यह पांच सद्गुण प्रतिकूल परिस्थिति में अनेकों पापों, अपराधों से बचा लेने में ढाल का काम करते हैं।

अपने व्यवहार-क्षेत्र में कोई अधिकारी अभिमानपूर्वक दबाता हो, तो नम्र हो जाओ; कोई लोभी सम्बन्धी हानि पहुँचाता हो या अपना हिस्सा कुछ अधिक लेता हो, तो उदार बन जाओ; प्रयत्न करने पर भी जो कुछ भोग-सामग्री न मिलती हो, तो सन्तोष धारण कर लो; कोई कष्ट देवे, तो सहन कर लो; कोई आपत्ति आ जाय, तो धैर्य धारण करो– ऐसा करने से बुद्धि

ठीक रहेगी, कोई अपराध न होगा।

भजन

सदा जो सुसंगति में आते रहेंगे,
विवेकी स्वयं को बनाते रहेंगे।।
मिलेगी नहीं शांति उनको कहीं भी,
जो परमात्मा को भुलाते रहेंगे।।
बनेंगे कभी मुक्त जीवन में वे ही,
जो चाहों को अपनी घटाते रहेंगे।।
सुखी होंगे जो किसी को दुख देकर,
वही अन्त में दुख उठाते रहेंगे।।
उन्हें ही वह सुख सिन्धु स्वामी मिलेंगे,
जो दुखियों को सुख देते जाते रहेंगे।।
उन्हीं की बनी और बनती रहेगी,
जो बिगड़ी किसी की बनाते रहेंगे।।
जो जितना अधिक दान कर लेंगे जग में,
वह पुण्यों की पूँजी बढ़ाते रहेंगे।।
न देंगे किसी को जो शुभ और सुन्दर,
कभी बैठे माखी उड़ाते रहेंगे।।
जो कुछ दीखता है रहेगा न सब दिन,
कहाँ तक यहाँ फँसाते रहेंगे।।
'पथिक' अपने में अपने प्रियतम को पाकर,
महोत्सव निरन्तर मनाते रहेंगे।।

संग का प्रभाव

बुद्धिमान मनुष्य को यह देखना चाहिए कि किसके संग से अपने पर क्या प्रभाव पड़ा है। प्रभाव उसी का पड़ता है, जिसका मूल्य अधिक बढ़ा दिया जाता है। मूल्य उसी का बढ़ाया जाता है, जो अपने को रुचिकर, प्रिय, सुखद प्रतीत होता है। इन्द्रियों के द्वारा जो रुचिकर, प्रिय, सुखद प्रतीत होता है। बुद्धि द्वारा विचार करने पर वही अरुचिकर, अप्रिय और दुखद सिद्ध होता है। अतः हम सबको चाहिये कि जिससे भी अपना सम्बन्ध है, जिसका भी हम सबने मूल्य बढ़ाया है उस पर विचारपूर्वक देखें कि वह अपने लिये हितकारी है या अहितकर दुःखकारी है।

बुद्धिमान पुरुष अपने पर विवेक-बल द्वारा किसी भी विषय-सुख का

या किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति का प्रभाव नहीं पड़ने देते; इसीलिये वे सुख की अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति की दासता में नहीं बँधते। किसी भी मनुष्य में जहाँ तक सांसारिक सुख का या किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का प्रभाव पड़ चुका है, वहाँ तक वह अवश्य ही लोभी, मोही, अभिमानी बन चुका है। इस प्रकार के प्रभाव को मिटाने हेतु गुरुजनों का, महापुरुषों का संग करना चाहिये।

जो कोई महात्मा का अथवा श्रद्धेय गुरु का सत्संग करता हो, उसे भी विचारपूर्वक देखना चाहिये कि महात्मा अथवा गुरु के वा य रूप तथा सुमधुर वाणी का प्रभाव यदि पड़ा है, तो उनके दर्शन की बार-बार रुचि होगी।इ ससेउ नकेश ारीरस`म ोहह ोगा।य दिम हात्माअ थवाग ुरुक` चमत्कारों, वैभव अथवा उनके विशाल आश्रम का प्रभाव पड़ा है, तब इससे लोभ की पुष्टि होगी। यदि महात्मा अथवा गुरु के बड़े बड़े धनी-मानी, राजा-रईस शिष्यों को देखकर प्रभाव पड़ा है, तब इससे अभिमान बढ़ेगा।

वास्तव में सन्त महापुरुषों के सत्संग से उनके तप, त्याग, ज्ञान और प्रेम का प्रभाव पड़ना श्रेयस्कर है। गुरु के अथवा महात्मा के सत्संग से जो व्यक्ति तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी और निष्काम प्रेमी न बने, तो समझना चाहिये अभी तक महात्मा, संत का सत्संग हुआ ही नहीं।

महात्मा या गुरुदेव के बाहरी रूप में या वा य वेष में तथा बाहरी बातों में मोहित होकर लोभी, मोही, अभिमानी बने रहने वाले आज सहस्रों श्रद्धालु दीखते हैं, पर उनके तप, त्याग, ज्ञान, प्रेम का महत्व देने वाले और उसे अपनाने वाले बिरले ही विवेकी पुरुष हैं।

जो महात्मा अथवा गुरुदेव के तप में मुग्ध होगा, वह अपने जीवन को अवश्य ही तपस्वी बनायेगा और तप की पूर्णता के लिये वह सुखोपभोग में अनुरक्त न होकर दूसरों की सेवा तथा स्वधर्म पालन के लिये कष्ट-सहिष्णु बनेगा।

जो गुरुदेव के त्याग में मुग्ध होगा, वह शिष्य अपने जीवन को त्यागमय बनाने के लिये राग-द्वेष, ोध-मोह आदि दोषों को छोड़ेगा और प्रेमी, उदार, दयालु, विनम्र, शांत होता जायेगा।

जो महात्माओं अथवा गुरुदेव के ज्ञान और प्रेम का मूल्य बढ़ाकर गुरु भक्त बनेगा, वह असत् भोग सुखों से विरक्त रहकर केवल सत्य को देखेगा और उसी सत्य का प्रेमी बनेगा।

जिस संग से लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या-द्वेषादि विकार बढ़ें वही असत् संग है। जो साधु, महात्मा, शिष्य, सेवक, स्वामी कहीं सांसारिक वस्तुओं के पीछे रागी, द्वेषी, लोभी, मोही, अभिमानी हैं, वे असत् के ही संगी हैं।

जिस संग से दोष मिटते जायं, दया, उदारता, निरभिमानता, निर्मोहता,

सरलता, निर्भयता, निश्चिन्तता, निरपेक्षता बढ़ती जाय वही उत्तम संग है।

जहाँ सन्यासी, महात्माओं को अपने बड़े आश्रम का, या धनी-मानी सम्पन्न शिष्यों के गुरु होने का अभिमान आ गया, या उनसे लम्बे भारी धन की भेंट पाने का लोभ आ गया अथवा अपनी प्रसिद्धि ख्याति की वृद्धि देखकर मन ही मन रस आता रहा तो समझ लो महत् पद की अभी प्राप्ति ही नहीं हुई। इस प्रकार यदि किसी शिष्य को या सेवक, भक्त, श्रद्धालु को यह सोचकर सन्तोष होता रहा है कि हमारे गुरुदेव बहुत बड़े महात्मा हैं, उनके बहुत बड़े रईस धनी शिष्य हैं, उनका बहुत बड़ा आश्रम है, मठ है, तो ऐसे विचारों का प्रभाव रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, अभिमानी बनायेगा।

जितनी अधिकता से कोई सम्मान का रस लेता है, माया के संग्रह में सन्तुष्ट होता है, विषयों का उपभोग करता है, उतनी ही अधिक उसकी बुद्धि मलिन समझनी चाहिये।

जितना अधिक तप तथा पुण्यों का योग है, उतना ही उत्कृष्ट भोग भी हो सकता है। जिसे जितना अधिक धन मिल रहा है, इच्छाओं की पूर्ति हो रही है, या जितना अधिक सम्मान मिल रहा है, उतने ही अधिक पुण्य समझना चाहिये।

मुफ्त किसी को कुछ नहीं मिलता। जो तप कर रहे हैं, पुण्य कर रहे हैं, वे आगे भोगेंगे; जो आज भोग रहे हैं, वे पहले कभी तप कर चुके हैं, पुण्य कर चुके हैं, उसी का यह फल है।

किसी तप या पुण्य के फल से किसी को अधिक धन, वैभव प्राप्त हो गया है; किन्तु साथ में उसके सदुपयोग का विवेक नहीं है, तो उसका पतन दरिद्रता तथा विपत्ति की ओर ही होगा। जो मनुष्य पर से धनहीन है, परन्तु भीतर सद्गुण सम्पन्न, विवेकी है; वही वास्तव में धनी है।

वही मानव सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करता है, जो तपस्या को ही अपनी शक्ति तथा त्याग ही अपना अधिकार और सेवा ही अपना कर्तव्य समझता है।

वही मानव सद्गुण अर्थात् दैवी सम्पत्ति से धनी है, जो दोषी प्राणी के सामने पराजित नहीं होता, अपने सद्गुणयुक्त व्यवहार से विचलित नहीं होता।

वहीम नुष्यब लवानह ै,ि जसकेम नम ेंक ाम, ोध,ल ोभादिविषयक दुर्बलताएं नहीं रहतीं; जो मन को संयम में रखता है।

वही मनुष्य सच्चा प्रेमी है जिसके लिये दया तथा क्षमा करना सदा सहज स्वभाव बन गया है और प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्नता जिसका साथ नहीं छोड़ती।

वही मनुष्य प्रेमी हो सकता है, जो किसी का भी बुरा नहीं चाहता। वही तपस्वी हो सकता है, जो अपने मन की पूर्ति नहीं चाहता। वही त्यागी हो

सकता है, जो केवल अपने प्रेमपात्र को ही चाहता है; उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता।

सेवा की सामग्री

जिनकी सेवा करनी हो अथवा जो सेवा के पात्र हों, उनकी तन द्वारा श्रम करके, वाणी द्वारा उन्हें मान देकर, उनकी कीर्ति फैलाकर, उनके शुभ कमो तथा पवित्र भावों एवं विचारों की बड़ाई करते हुए सेवा करो।

धन द्वारा उनकी आवश्यकता की पूर्ति करते हुए सेवा करो। अधिक धन हो तो कुटुम्ब की, जाति, समाज की, पशुओं की, सर्दी-गर्मी के अनुकूल जहां-कहीं नल की आवश्यकता हो, प्याऊ बैठाकर, सरोवर, कूप, नल, नहर बनवाकर पूर्ति करो। अन्न, वस्त्र, भवन, भूमि देकर सेवा करो। रोगी जनों की औषधि, उपचार के द्वारा सेवा करो। शिक्षा देकर, विद्या-दान देकर, सत् प्रेरणा देकर पात्रों की सेवा करो।

शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता के होते हुए जो सेवा का सौभाग्य प्राप्त नहीं करते वे आलसी, प्रभावी, सुखासक्त, तामसी प्रकृति के भाग्यहीन व्यक्ति हैं।

आपके पास सेवा के लिये कदाचित् धन नहीं है, उच्च अधिकार नहीं है, तो उसकी चिन्ता न करो; वह सेवा आपका कर्तव्य भी नहीं है। आपके पास जितना भी शरीर में बल है, उसी से सेवा करो। आपके पास मधुर वाणी तो है ही; हृदय में प्यार देने की, मान देने की शक्ति तो है ही जो परमेश्वर से सबको मिली हुई है। आप सेवा के योग्य पात्रों को आदर, सत्कार, मान तो देते ही रहो; प्राणिमात्र को प्यार की दृष्टि से देखो। सबके प्रति सद्भावना रखने में आपका कुछ भी खर्च नहीं होता।

आप अपनी मुखाकृति में सौम्यता, सरलता, प्रसन्नता धारण कर सभी को प्रसन्न कर सकते हो।

अपनी मधुर वाणी से सुन्दर, आदर, प्रतिष्ठा के शब्दों से सबको सन्तुष्ट रख सकते हो।

अपने से वयोवृद्धों को अपनी ओर आते देखकर उठकर खड़े हो सकते हो। आगन्तुक आनेवाले को आसन देकर, शिष्टाचार, सभ्यता का परिचय देकर उनका आशीर्वाद ले सकते हो– ऐसा करने में आपको अधिक श्रम न पड़ेगा, धन की भी आवश्यकता न पड़ेगी। अपना कर्तव्य समझकर ऐसी सेवायें सहज रूप में कर ही सकते हो। परन्तु सेवा के लिए निरासक्त होना चाहिये। सेवा का अर्थ किसी के दुःख मिटाना नहीं है, बल्कि सुख बाँटना है। जो सेवा चाहता है वही दुखी है, जो प्रीति एवं

उत्साहपूर्वक सेवा करता है वही सुखी है।

हम लोग सभ्यता के नाते यही सुनते, कहते रहते हैं कि क्रोध न करो, लोभ न करो, अभिमान, द्रोह, ईर्ष्या न करो; परन्तु गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करने पर इससे भी अधिक सत्य का ज्ञान होगा। एक व्यक्ति यदि अवसर पर क्रोध, लोभ, अभिमान तथा द्वेष, ईर्ष्या नहीं करता, तो यह उसकी वीरता एवं कोई विशेष पुरुषार्थ की बात नहीं है। वास्तव में वीरता तो यह है कि हम क्रोध के विपरीत दिशा में लौटकर क्षमा करें, दया करें, अभिमान के विरुद्ध नम्रता धारण करें, लोभ के विरुद्ध दान दें, द्वेष के विरुद्ध प्रेम करें।

अपने स्थान से जीव के यदि एक दिशा में लोभ, अभिमान, क्रोध, द्वेषादि विकार हैं तो उसके विपरीत दूसरी दिशा में लौटने पर उदारता, दान, नमनशीलता, क्षमा, प्रेम आदि सद्गुण हैं। क्रोधी, लोभी, अभिमानी, द्वेषी होना यदि दक्षिण दिशा है, तो क्षमाशील, दानी, विनम्र, प्रेमी होना अपने स्थान से उत्तर दिशा है; और क्रोधी, लोभी, अभिमानी, द्वेषी न होना अपना स्थान है। अतः क्रोध, लोभ, अभिमान आदि दोषों की दिशा में न बढ़ना अपने स्थान में ही स्थिर होना है; किन्तु विशेष प्रयत्न, पुरुषार्थ, वीरता तो यही है कि क्रोध को क्षमा से जीते, अभिमान को नमनशीलता से जीते, लोभ को उदारता से जीते, द्वेष को प्रेम से जीते– इस प्रकार के विजयी पुरुष ही समाज में महात्मा सन्त कहे जाते हैं।

परमार्थी का कर्तव्य

यदि तुम वीतराग रागरहित विरक्त ज्ञानी महापुरुषों की उत्तम बातें नम्रतासहित सुनते हो, उनकी पवित्र आज्ञानुसार कर्तव्य कमो को पूर्ण करते जाते हो; यदि तुम उनके दिखाये लक्ष्य को स्मरण रखकर पारस्परिक व्यवहार निभाते चलते हो; तब तुम उन लाखों मनुष्यों से आगे बढ़ गये हो, जो धन के, विद्या के, कुल के या पदाधिकार तथा अपनी शक्ति, योग्यता के अभिमानवश विरक्त, विवेकी महात्माओं की बातें नहीं सुनते, उनकी ओर नहीं आते, बल्कि उनका विरोध करते हैं, निन्दा करते हैं।

संसार में वही पुरुष सच्चे त्यागी, तपस्वी, विवेकी, प्रेमी तथा सच्चे सेवक होते हैं, जो विरक्त अर्थ एवं कामना की दासता से मुक्त महात्माओं का संग करते हुए उनकी आज्ञा में चले हैं।

अपनी इच्छा की पूर्ति करना भोग है, दूसरों की उचित इच्छा की पूर्ति करते हुए अपनी इच्छा पूर्ति का पक्ष न लेना तप है, और ज्ञानी, विरक्त की

हितकारी आज्ञा पालन करते रहने में त्याग और प्रेम की पूर्णता होती है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने को किसी न किसी के आगे समर्पण करता है परन्तु परमेश्वर तथा परमेश्वर के प्रेमी ज्ञानी पुरुष के आगे समर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त करनेवाला लाखों में कोई एक दिखाई देता है।

पवित्र, आदर्श, त्यागी, महापुरुष के समक्ष अपने को अर्पण किये बिना इस काल में देहाभिमान, कुलाभिमान, विद्याभिमान तप अथवा त्याग का अभिमान मिटना असम्भव दीखता है।

"न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा भी सीखे हैं, किसी के हो के सीखे हैं।।"

जब तक संसार-बन्धन से छूटने की प्रबल अभिलाषा नहीं होती तब तक विरक्त ज्ञानी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं होती और प्रगाढ़ श्रद्धा हुए बिना कोई पूर्ण समर्पण नहीं कर पाता। जब तक पूर्ण रूपेण दिया नहीं जाता तब तक उधर पूर्ण रूप से लिया भी नहीं जा सकता। अपने को खाली कर लेना ही भरने का साधन है।

भोग-सुखों के प्रति आसक्ति ही विरक्त नहीं होने देती। विरक्त हुए बिना लोभ, मोहादि विकारों से छुटकारा नहीं मिल सकता।

सन्त-वाक्यों पर विचार करो जब लिया हुआ सदा रहता नहीं, तब कुछ दिन के लिये मिली हुई वस्तुओं को अपनी मानकर मोही, लोभी क्यों बनते हो? तुम मिले हुए का सेवा में सदुपयोग करो और जाने वाली वस्तु से विरक्त हो जाओ।

तुम्हारे मन में शोक, सन्ताप, पश्चाताप यही सिद्ध करते रहते हैं कि अभी तक तुमने असत् वस्तुओं का मोह, लोभ, अभिमान नहीं छोड़ा है।

भगवान की कृपा का अनुभव करना चाहते हो, तो भगवान से मिली हुई शक्ति से अपना कर्तव्य पूर्ण करते जाओ।

जो-कुछ तुम कर सकते हो उसे कर चुकने पर जो कुछ कृपा से होता है वह स्वतः ही पूर्ण हुआ मिलेगा, उसके लिए तुम्हें कुछ न करना पड़ेगा।

दुखी प्राणी पर भगवान की दया होती है, पर कृपा तो उन्हीं पर होती है जो सर्वभावेन भगवान् के होकर संसार में रहते हैं, पर संसार को भगवान के स्थान में नहीं रखते।

संसार पर निर्भर रहनेवाला व्यक्ति कभी भयरहित, निश्चिन्त नहीं हो सकता। भोग तथा ऐश्वर्य का लालची व्यक्ति कभी दूरदर्शी, सत्यदर्शी नहीं कहा जा सकता। दूरदर्शी, सत्यदर्शी हुए बिना कोई वर्तमान में बढ़ते हुए दोषों के त्याग का प्रयत्न नहीं कर सकता।

जो विचारपूर्वक स्वयं दोषों का त्याग नहीं करता, उसे दुःख आकर त्याग करने के लिए विवश कर देता है। जो व्यक्ति दुखी होकर त्यागी,

विरक्त नहीं बनता वह और अधिक दुःख को अनजाने ही आमन्त्रित करता है।

शान्ति तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य में शक्ति की कमी नहीं है; वरन् शक्ति का सदुपयोग करनेवाली योग्यता की कमी है, प्रबल अभिलाषा की कमी है। अभिलाषा की प्रबलता में ही त्याग का बल आ जाता है, जहाँ त्याग करना कठिन प्रतीत होता है, वहाँ अवश्य ही अभिलाषा शिथिल है। जो त्यागा न जा सके, उसी से प्रगाढ़ प्रीति समझनी चाहिये।

बाहरी वस्तुओं के त्याग से त्याग पूर्ण नहीं होता, वास्तव में इच्छामात्र का त्याग करना ही मुक्तिदाता त्याग है। यथार्थ ज्ञान होने पर ही पूर्ण त्याग होता है। सत् असत् का विचार करने पर यथार्थ ज्ञान होता है। चित्त शुद्ध होने पर विचार होता है।

जो अपने सुख को बाँटता रहता है, दुःख को धीरज से सह लेता है, प्रतिकूलताओं से शिक्षा लेता है। और किसी समय भी छिन जानेवाली अनुकूलता पर विश्वास नहीं करता, वही विवेकी पुरुष है। पाठकों! देखो, क्या तुममें ऐसा विवेक है?

सुख के अन्त में निश्चित रहनेवाले दुःखों का जो व्यक्ति बार—बार चिन्तन करता है, तो वह पुरुष विरागी होता है।

जो-कुछ प्रतीत हो रहा है उससे सम्बन्ध न जोड़ने से और जो कुछ विनाशी है, जड़ है, उसका चिन्तन न करने से समाधि सुलभ होती है।

जब प्रियतम के अतिरिक्त चित्त में किसी का चिन्तन न हो; अनुकूलता, प्रतिकूलता का प्रभाव न हो; तभी प्रेम-समाधि सुलभ होती है।

जब तक इन्द्रियों के विषयों से मन विरक्त नहीं होता, तब तक योग की सिद्धि नहीं होती। भोग ही योग में बाधक है।

यहग ुरुअ नुभूतिह ै किभ ोगस ुखोंक ीद ासतास े छ ूटनेक े लिये विवेक-बल, दोषों के त्याग का बल तथा दूसरों की सेवा का बल भरपूर होना चाहिये।

जिज्ञासा जानने की इच्छा प्रबल न होने से अर्थात् अपने में विवेक की कमी का दुःख न होने से पूर्ण विवेक नहीं होता। सुख के प्रति आसक्ति प्रबल होने से, विवेक की दुर्बलता का दुःख पूर्ण न होने से, पूर्ण त्याग नहीं होता और स्वार्थ—पूर्ति की कामना प्रबल होने से, बन्धन का दुःख पूर्ण न होने से, सेवा पूर्णरूप से नहीं होती।

अविवेकजनित इन्द्रियों तथा मन के दृढ़ अभ्यास को विवेक द्वारा ही बदला जा सकता है।

रागजनित दुष्परिणाम को त्याग द्वारा ही मिटाया जा सकता है। त्याग

ही राग का, सुखासक्ति का प्रायश्चित है।

स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति सेवाभाव से ही नष्ट हो सकती है। सेवा के द्वारा शक्ति का सदुपयोग ही स्वार्थ-युक्त प्रवृत्ति का प्रायश्चित है।

विवेकपूर्वक दोषों के त्याग से और दूसरों की सेवा अथवा सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही मानव जीवन पवित्र हो सकता है।

अनेकों साधक आत्म-कल्याण के लिये वाणी से भगवान के नामों का कीर्तन करते हैं, मन्त्र-जाप करते हैं, रामायण, गीता आदि सद्ग्रन्थों का पाठ भी करते हैं; परन्तु जब तक विवेकपूर्वक दोषों का त्याग नहीं कर देते, जब तक स्वार्थ को सेवा में नहीं बदलते, तब तक उन साधकों का मन पवित्र होता ही नहीं। परमेश्वर से प्रीति होती ही नहीं।

नाम-जप, कीर्तन, पाठ, मूर्ति-पूजा आदि साधन परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ने के लिये हैं, परमेश्वर से प्रीति बढ़ाने के लिये हैं।

जब तक जप तथा कीर्तन एवं पूजा-पाठ करते हुए मन चंचल रहता है, तब तक समझना चाहिये कि साधक का भगवान से सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं, भगवान से प्रीति है ही नहीं।

जिससे सम्बन्ध होता है अथवा प्रीति होती है, उसमें मन स्वतः ही लगा रहताह ै।उ सकाक हीं विस्मरणह ोताह ीन हीं।जिसप्रकारश रीरस े अथवा कुटुम्ब से सम्बन्ध तथा प्रीति दृढ़ हो जाने के कारण कोई व्यक्ति शरीर के नाम को, जाति को, परिवार को, गृहादि को कभी नहीं भूलता, उसी प्रकार जब भगवान से, परमात्मा से सम्बन्ध का ज्ञान हो जायेगा और उन्हीं से प्रीति हो जायगी, तब परमातमा का अथवा भगवान का कहीं भी विस्मरण न होगा। स्मरण वही है जिसका कभी विस्मरण न हो। चिन्तन, ध्यान वही है जो हटाये न हटे, स्वतः होता ही रहे।

बुद्धिमान मनुष्य– और वह चिन्ता से घिरा हो– यह परिस्थिति बुद्धिहीन पशुओं को देखते हुए बहुत ही हास्यास्पद हँसी के योग्य है।

जो मानव सत्य परमात्मा का आश्रय ले चुका है और मिले हुए का सदुपयोग करता है, उसके जीवन में चिन्ता का स्थान ही नहीं रहता।

जो विनाशी वस्तुओं में अपना सुख निर्भर करता है वही चिन्तित होता है। सत्य परमात्मा से विमुख मनुष्य विनाशी शरीर की तथा सम्पत्ति की रक्षा करने में सदा चिंतित रहते हैं और रक्षा का प्रयत्न करते-करते शरीर तथा सम्पत्ति का वियोग देखते हुए मरते हैं।

लोग विद्या पढ़ते हैं फिर धनोपार्जन करते हैं, अन्न वस्त्र आदि विविध वस्तुओं का संचय करते हैं – यह सब देह की रक्षा के लिये करते हैं, उन्हें सदा जीते रहने की चिन्ता है। उनसे पूछा जाय कि धन कमाने की चिन्ता क्यों है, तो उ ार देते हैं कि जीवन कैसे चलेगा? परन्तु यह विचार नहीं

करते कि वे जीना क्यों चाहते हैं? यदि खोज करके देखा जाय, तो ऐसे जीव केवल जीते रहने के लिये ही कमाते-खाते हैं और फिर भी कमाते-कमाते, खाते-खाते ही मर जाते हैं।

सुनने योग्य, सुनाने योग्य वही है जो पवित्र है, आवश्यक है, जिसे सुने बिना अथवा दूसरों को सुनाये बिना किसी प्रकार की हानि हो सकती है।

करने योग्य वही है, जिससे शक्ति एवं समय की सार्थकता है, जो हितकर है, दूसरों के लिये सुखद है।

न करने योग्य वही है, जिसमें शक्ति एवं समय व्यर्थ नष्ट होता है, जो अपने लिये अहितकर है, दूसरों के लिये दुखदाई है।

जिनका धन दान के लिये है, विद्या ज्ञान के लिये है, शक्ति दूसरों की सेवा के लिये है, चिन्ता परमात्मा के योग के लिये है, वही संसार में महापुरुष कहे जाते हैं।

जिसका जितना ही अभिमानरहित तप है, और गर्वरहित ज्ञान है, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ साधक है।

भोग-सुख की कामनायें या तो ज्ञान होने पर त्यागी जाती हैं या फिर तप के द्वारा नष्ट होती हैं। भोगने से शान्ति नहीं होती।

जिसके मन में कामनायें नहीं रहतीं, उसी के मन में परम प्रभु निवास करते हैं।

मन जहाँ जाय उसे लौटाओ और जो कार्य सामने हो उसी में उसे लगाओ। जब कार्य न हो तब विचार करो और देखो कि जो–कुछ दीख रहा है यह दृश्य मिट रहा है, सब क्षणिक है, नश्वर है, अन्त में दुःखद है; इसीलिये दृश्य के प्रति राग का त्याग करो।

जो कुछ चंचल हैं उससे हटाकर जो–कुछ अचल है उसी में मन को लगाओ।

छोटी-छोटी प्रसन्नताओं में बँधे न रहो, यही अखण्ड आनन्द की ओर बढ़ने का उपाय है।

विचारपूर्वक देखो– सुख यहीं छूट जायेगा। वियोग का, हानि का, अपमान का, अभाव का मानसिक दुःख साथ जायेगा। अपनी इच्छाओं के कारण ही प्राणी दुखी होता है, इच्छाओं के कारण ही वस्तुओं तथा व्यक्तियों के दासत्व में बँध जाता है। जिसमें इच्छाओं के त्याग का बल आ जाता है, वही दासत्व से मुक्त होता है।

आसक्ति सबसे बढ़कर रोग है। लोभ-मोहादि भी जीवन के महारोग हैं। यह सारे रोग देह को अपना रूप मानने से ही लगे हैं। शरीर से असंग हुए बिना इन रोगों से छुटकारा नहीं होता।

देह से असंगता मरने से भी नहीं प्राप्त होती, वह तो नित्य जीवन के

ज्ञान से सुलभ होती है।

जो जितने अधिक प्राणियों को सुख देगा उतने ही अधिक प्राणियों से वह सुख पायेगा।

जो कुछ दूसरों से लेते हुए प्रिय लगता है, सुख मिलता है, वहीं दूसरों को भी देते रहना बुद्धिमान पुरुष अपना कर्तव्य समझते हैं।

दूसरों के दोषों का चिन्तन करने से अपने पर दोष का प्रभाव पड़ेगा, दोष बढ़ेंगे। दूसरों में सद्गुणों, भलाइयों का चिन्तन करने से सद्गुणों, भलाइयों का प्रभाव पड़ेगा– सद्गुण बढ़ेंगे।

जो कुछ प्रारब्धवश मिला है, उसका सदुपयोग करते रहना मानव का पुरुषार्थ है।

जब तक काम- ोध के वेग को प्राणी नहीं रोक पाता, लोभ और अभिमान नहीं मिटा पाता, तब तक न अपना हित कर सकता है, न दूसरों का। अपने जीवन को सुन्दर बना लेने से समाज में स्वतः ही सुन्दर बनने का प्रचार होगा, केवल उपदेश से ही नहीं।

जीवन को सुन्दर बनाने के लिए बौद्धिक योग्यता की, सद्व्यवहार की, संयम और श्रम की आवश्यकता है। दूसरों की अपेक्षा जो-कुछ तुम्हें सुन्दर मिला है उसका अभिमान न करो, बल्कि उससे किसी को सुख दो।

दुःख आने पर सम्बन्धियों के आगे दीन न बनो, परमात्मा की ओर देखो। स्मरण रक्खो– जब सभी द्वार बन्द दिखाई देते हैं, तब दीनबन्धु की ओर से कोई न कोई अदृश्य द्वार खुलता है। किसी से घृणा करना अपनी श्रेष्ठता, सुन्दरता का अभिमान है, बुरे से बुरे पतित से घृणा न करो।

एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दो– सेवा करो, अध्ययन करो, विश्राम करो, परमात्मा का चिन्तन करो।

स्वाधीन होकर ँचे काम करना चाहते हो, तो सुख का लालच, दुःख का भय भीतर से निकाल दो।

जहाँ लालच नहीं होता, भय नहीं रहता– वहीं पवित्र प्रीति प्रत्यक्ष होती है।

दुर्बलता तथा दोष को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्प ही साधन है। भोग-सुखों में जितनी आसक्ति बढ़ेगी उतनी ही दुर्बलता बढ़ेगी।

आत्मदर्शन

आत्मदर्शन का अर्थ है अपने को देखना। जो दूसरे को देखता है वही अपने को देख सकता है। परन्तु जब तक अन्य के देखने में दृष्टि लगी रहती है तब तक आत्मदर्शन नहीं होता, जब अपने आपको कोई देखता है तब दूसरा नहीं दिखाई देता।

अपने को देखने के लिये सब ओर से दृष्टि-वृत्ति मोड़नी होती है। 'मैं हूँ' यह बो ा होना ही अथवा सर्व संग रहित 'स्व' का अनुभव ही आत्मानुभूति है। 'यह' से 'मैं' को अलग कर लेना– यही आत्मदर्शन का मुहूर्त है। 'यह' मैं नहीं हूँ, ऐसा मनन करते रहना ही आत्मदर्शन का साधन है।

'यह' के साथ अर्थात् दृश्य के साथ 'मैं' को मिला देना ही अहंकार है। किसी अन्य के सामने 'मैं यह हूँ' ऐसा प्रगट करना, अभिमान है।

अहंकार तथा अभिमान की सीमा में आबद्ध रहकर रस लेनेवाले को आत्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता, इसीलिए 'यह' के साथ अर्थात् दृश्य के साथ जो 'मैं' का संयोग हो गया है, उसको अस्वीकार करते-करते 'मैं यह नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ– ऐसा कहते-कहते जब 'यह' कुछ भी नहीं रह जाता, और 'मैं' अकेला रह जाता है, वहीं पर सत्स्वरूप की असंग अनुभूति को आत्मदर्शन या आत्म साक्षात्कार कहते हैं। जिसकी प्रीति किसी भी दृश्य रूप के प्रति, शब्द-स्पर्शादि के प्रति नहीं रह जाती वही आत्मप्रेमी होता है। जिसका सम्बन्ध किसी भी रस से नहीं रह जाता, वही आत्मतृप्त होता है। जिसकी बुद्धि का विषय जगत दृश्य नहीं रह जाता, वही आत्मज्ञानी होता है। जो आत्मा का प्रेमी है, जो आत्मा से तृप्त है, सन्तुष्ट है, जहाँ आत्मा का पूर्ण ज्ञान है, वहाँ कोई कमी शेष नहीं रहती, कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। समस्त कर्तव्य कर्म 'यह' दृश्य जगत से सम्बन्ध होने के कारण होते हैं, आत्मा का अनुभव होने पर आत्मा के लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं।

आत्मा तो वह तत्व है जिसके आधार पर सब कुछ हो रहा है। 'मैं' की अर्थात् आत्मतत्व की नित्य सुलभ प्राप्ति है, उसका बोध होता है; लेकिन 'यह' जगत दृश्य की प्रतीति तो होती है, परन्तु प्राप्त कुछ नहीं होता। जगत के नामरूप के साथ 'मैं' तथा मेरापन मिला देना राग है, यही अज्ञान की सीमा का कार्य है। जगत के नामरूप से 'मैं' को तथा मेरापन को हटा लेना त्याग है।

जगत के नामरूप से अपनी पूर्ति नहीं होती, बल्कि 'मैं' से अर्थात् आत्मा से जगत की पूर्ति होती है। सारे सम्बन्ध, मोह, लोभ या अभिमानजनित आसक्तियां चैतन्य और जड़ के अर्थात् 'मैं' और 'यह' के, आत्मा और देह के संयोग से ही उत्पन्न होती हैं – उन आसक्तियों का नाश आत्मज्ञान से ही होता है।

आत्मदर्शन नेत्रों से नहीं होता, नेत्रों से वह रूप दिखाई देता है, जो अपने पर आवरण की भांति है। आत्मदर्शन के लिये पाँच आवरण का भेदन करना होता है; यह पाँच तत्व के बने हुये शरीर हमारे आवरण हैं, इन शरीरों को वस्त्र की भाँति हम पहनते हैं। यह पाँच तत्वों के बने हैं; पर ये

सहस्रों, लाखों प्रकार के वस्त्र हैं — इन्हें अपनी वासना के अनुसार हम धारण करते हैं।

आत्मदर्शन करने के लिये पाँच तत्व के बने हुये आवरण को भेदकर तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण यह तीन द्वार और पार करने होते हैं। इसके आगे मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार यह चार मंजिल चढ़ने पर वह स्थल प्राप्त होता है, जहाँ आत्म-तत्व निरावरण अर्थात् नग्न, निर्विकार रूप में नित्य एकरस विद्यमान है।

देहाभिमान, धनाभिमान, विद्याभिमान, कुल का तथा तप और त्याग का अभिमान छोड़े बिना आत्मदर्शन के द्वार पर भी नहीं पहुँचा जा सकता; क्योंकि त्याग के बिना बुद्धि स्थिर नहीं होती। तृष्णा, ोध, भय से भी बुद्धि चंचल रहती है। इस प्रकार की चंचल बुद्धि आत्मदर्शन में बाधक है।

सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों के प्रति कभी प्रीति, कभी घृणा करते रहने से मन विकारी रहता है, अहंकार को मान की खूराक मिलती रहती है। ऐसी दशा में भी आत्मसाक्षात्कार के स्थल में पहुँच नहीं हो पाती।

इन्द्रियजनित सुखभोग की भूख मानव को अत्यधिक पापी, अपराधी बनाती है; यही मोही, लोभी, अभिमानी बनाती है; यही योग में बाधक है।

जो कोई आत्मोपासक है उसे ही त्याग में, दान में, तप में, सन्तोष होता है, आनन्द मिलता है; पर जितना नीचे उतरो, जितना ही चेतना से जड़त्व की ओर बढ़ो, उतना ही त्याग में, दान में, तप में, दूसरों को सुखी रखने में कष्ट प्रतीत होता है। वहाँ तो सब ओर से लेने में ही सुख दीखता है।

देना आत्मा का गुण है, लेना प्रकृति का स्वभाव है। प्रकृति की परिधि को पार करने पर आत्म-ऐश्वर्य का अनुभव होता है जहाँ कोई न्यूनता, अभाव है ही नहीं।

विद्युत् आत्मदर्शन करना चाहे और वह हरे, पीले, नीले काँच के लट्टू में अपने स्वरूप को देखे, तो काँच के भिन्न-भिन्न रंगों के अनुसार ही अपना रूप मान लेगी, वही विद्युत् जब अन्य यन्त्रों में आत्म साक्षात्कार करना चाहेगी, तब कहीं अपने को अति वेगवती गति के रूप में, कहीं महान् बल के रूप में अभिमानी बनेगी; परन्तु वही विद्युत् जब काँच के भिन्न-भिन्न रंगों के पीछे, प्रत्येक यंत्रों के पीछे अपने व्यापक सत्तास्वरूप का अनुभव करना चाहे, तब उसे आत्मदर्शन के लिये सर्वसंगाभिमान से असंग होना होगा। विद्युत को जिस प्रकार आत्मदर्शन के लिये न काँच के बल्बों की आवश्यकता है, न किसी यंत्र की आवश्यकता है, न तार की, न अपना पता पूछने की ही आवश्यकता है, उसी प्रकार हमें आत्मदर्शन के लिये शरीर, इन्ि याँ, मन आदि किसी की आवश्यकता नहीं है; केवल बुद्धि-दृष्टि से 'अहम्' की सीमा को देखना होता है। उस सीमित 'अहं' का प्रकाशक कौन

है? यह प्रश्न हटाकर बुद्धि को भी मौन करके उस ओर मोड़ देना होता है जिससे बुद्धि प्रकाशित हो रही है। विषय रस से विरक्त होने पर इन्द्रियाँ मौन होती हैं। चाह तथा संकल्प छोड़ने पर मन मौन होता है। अभिलाषाओं से पर उठने पर बुद्धि मौन होती है। यही आत्मदर्शन की भूमि है। आत्मदर्शन के लिये किसी देश की, किसी काल की तथा किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है; केवल सर्वसंगत्याग की ही आवश्यकता है और आवश्यकता है महा मौन की।

आत्मदर्शन के लिये सन्त के वचन हैं कि जिसे अपना मानते हो उसे न मानो, जो कुछ करने जा रहे हो उसे न करो; कुछ मानने और करने के प्रथम, जो तुम थे, उसका बोध तभी प्राप्त होगा। सत्य आत्मा की खोज, सत्य आत्मा से दूर ले जाती है। असत्य की स्वीकृति असत्य देहादिक वस्तुओं से सम्बन्धासक्ति बढ़ाती है।

आत्मदर्शन के लिये जो हम प्रयत्न करते हैं वह प्रयत्न कुछ दूर तक प्रपंच की भीड़ को पार कराने में सहायक है। प्रपंच से बाहर आते ही वे प्रयत्न ही आत्मदर्शन में बाधक बन जाते हैं।

सत्य का अर्थात् आत्मा का अनुभव करने के लिये हमें सत्य की खोज बन्द करनी चाहिये। असत्य वस्तुओं तथा सम्बन्धियों के बन्धन से छूटने के लिये उन्हें मन से अस्वीकार कर देना चाहिये, अपना न मानना चाहिये। असत्य को अस्वीकार करते ही हम स्वयं अपने सत्यरूप का अनुभव कर सकते हैं।

जगत् के नामरूपमय दृश्य के साथ सम्बन्ध रखते हुये न आत्मदर्शन होगा, न प्रेम होगा, न योग ही होगा। सम्बन्ध से ही प्रवृ ि होती है। यही जड़ जगत जकड़े रहती है। निवृ ि परमानन्द की ओर ले जाती है और दूरी तथा भेद मिटा देती है। निवृ ि अथवा अस्वीकृति के द्वारा सम्बन्ध मिटने पर जब अपना मानने तथा मनन करने के लिये, विचार करने के लिये, कुछ शेष ही नहीं रहता; तभी निष्ि यता, निस्संकल्पता आती है। यही इन्द्रियों सहित मन एवं बुद्धि का मौन हैं इस मौन तथा एकान्त में, जहाँ अनेकता का अन्त होता है, केवल अनन्त शेष रहता है। यही आत्मसाक्षात्कार है।

कुछ लोग देह को अपना रूप मानते हैं, उसका दर्शन वा य नेत्रों से होता है। कुछ साधक सूक्ष्म शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध रखते हैं। उसका दर्शन अन्तर्दृष्टि से होता है। कुछ सज्जन एकाग्रता द्वारा अपने तृतीय नेत्र से ज्योतिप्रकाश का दर्शन करते हैं, उसे आत्मसाक्षात्कार मान लेते हैं। परन्तु हम जिसे अपने से भिन्न, दृश्यरूप में देखते हैं, वह आत्मदर्शन नहीं है।

निर्मल बुद्धि से ही आत्मज्ञान होता है, संगाभिमान से ही मुक्त अहं में आत्मा का बोध होता है।

यह गुरु सन्देश है जो कि शरीर को अपना रूप नहीं मानता, जो भोग-सुखों से विरक्त हो जाता है, जो संसार में कुछ भी पाकर संतुष्ट नहीं होता, उसमें अपनी प्रसन्नता निर्भर नहीं करता, जो आत्मदर्शन तथा सत्य के योगानुभव को भविष्य में नहीं टालता, जो बीती हुई घटनायें भूल जाता है, जो अनुकूल की आशा, प्रतिकूल से भय नहीं करता, जो आत्मज्ञान तथा आत्म साक्षात्कार हुये बिना कहीं भी चैन नहीं लेता, वह वर्तमान में ही आत्मानुभव प्राप्त करता है। जो भोग-सुख विधिवत प्रयत्न से, धर्म से प्राप्त होते हैं, उन्हीं के लिये भविष्य की आशा तथा दूसरों की सहायता आवश्यक है। जो सत्ययोगानन्द त्याग से प्राप्त होता है उसके लिये न भविष्य की और न किसी सहायता ही की अपेक्षा है।

जो आँख अगणित पदाथो को देखती है, वह यदि अपने को देखना चाहे तो कैसे देखेगी? यदि कोई दर्पण में आँख को देखे तब भी आँख का भान होगा; परन्तु दर्पण की आँख से भिन्न है। वह दर्शन दर्पण के रहने तक ही होगा, दर्पण हटते ही आंख का आत्मदर्शन होना समाप्त हो जायगा, फिर भी आँख तो रह जायगी। जो आँख सदा रहती है उसका अनुभव, उसके होने का बोध, बिना किसी माध्यम के ही निरन्तर होता रहता है– यही वास्तव में आंख का अपना आत्मदर्शन है। इसी प्रकार अपने आप माध्यम शून्य ज्ञान के रूप में जो हम शेष रह जाते हैं अथवा दृश्य का बोध करते करते जब हम यह अनुभव करते हैं कि कुछ भी शेष नहीं रह गया है, जब कुछ भी नहीं रह गया है तब इसके ज्ञाता रूप में हम जो बच रहते हैं, वही आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप का बोध ही आत्मदर्शन है, आत्मसाक्षात्कार है। आत्मासाक्षात्कार जीव के पुरुषार्थ की अन्तिम सफलता है।

परिशिष्ट

प्राणी को दुःख क्यों होता है?

ज्ञान की कमी अर्थात् अज्ञान के कारण अनेकों प्रकार के दुःख होते हैं। लोभ, मोह, अभिमान एवं काम के प्रबलता के कारण दुःख होते हैं। सुखोपभोग को चाह अर्थात इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण दुःख होते हैं। दूसरा कोई दुःखदाता नहीं होता। जिनका चित्त द्वेष से दूषित, मोह से मूढ़ह ै,ज ोक हींभ ीअ ासक्तह ैव हद ुःखीह ै।अ नुकूलताक े र ागवश, प्रतिकूलता के कारण दुःख होते हैं।

परमात्मा से विमुख रहने तक, स्वरूप को न बताने तक दुःख ही दुःख

घेरे रहते हैं।

दुःख मिटाने का उपाय है?

जिसके पाने में जीव स्वाधीन नहीं है उसकी चाह छोड़ देने से दुःख समाप्त हो जाएगा।

मोह त्याग कर देने पर वियोग का दुःख न होगा। लोभ त्याग कर देने पर हानि का दुःख होगा। अभिमान त्याग कर देने पर अनादर, अवज्ञा, अपमान का दुःख न होगा। कामना त्याग कर देने पर अभाव का दुःख न होगा। शरीर से और सम्बन्धियों से निराश होने पर मृत्यु का दुःख न होगा। रुग्णावस्था रोगी दशा में उसे असंयम का प्रायश्चित समझ लेने पर, तप के भाव से धीरज रखकर सह लेने से रोग का भी उतना दुःख न होगा। दोषों का अन्त होने पर दुःखों का अन्त होगा। परमात्मा का ही आश्रय लेने से, सत्स्वरूप में बुद्धि को स्थिर रखने से दुखों का अन्त हो जायगा।

जीव को बन्धन में किसने डाला?

सर्वस्वतन्त्र सत्य परमात्मा से विमुख होने पर जीव बन्धन में पड़ा। परमेश्वर से मिली हुई स्वतन्त्रता का अविवेकवश दुरुपयोग करने के कारण बन्धन में आबद्ध हुआ।

सत्स्वरूप की महिमा न जानने के कारण संसार से आशा एवं सम्बन्ध जोड़ने के कारण जीव बँध गया।

अपनी इच्छाओं, कामनाओं के पीछे अपने किये हुए कमो से ही जीव फल भोग में बाँ ा दिया गया।

अपनी प्रीति को पराधीन वस्तुओं एवं व्यक्तियों में सीमित कर देने के कारण प्राणी उन्हीं वस्तुओं, व्यक्तियों के अधीन बन गया।

बन्धनों से मुक्ति का साधन क्या है?

जीव जहाँ अज्ञान के कारण बंधन में पड़ा है वहाँ ज्ञान होने पर ही मुक्त हो सकता है?

सद्विवेक न होने के कारण, जो-कुछ अपना नहीं है, उसे अपना मानकर जीव मोहपाश में बँधा है। अब कुछ भी अपना न मानने से ही वह बन्धन से छूट सकता है। जहाँ केवल स्वीकृति ही बन्धन का हेतु है वहाँ अस्वीकृति ही मुक्ति का साधन है। त्याग से राग का बन्धन, दान से लोभ का बन्धन, सेवा से स्वार्थ का बन्धन, आत्मज्ञान से देहाभिमान का बन ान, सद्गुरुसंग से मोह का बन्धन छूट जाता है।

दूसरों से जो कुछ लेना है उसे छोड़ दो और जो कुछ दूसरों को देना है उसे दे दो; इससे सम्बन्ध का बन्धन टूट जायगा।

मन में किसी को रख लेना ही बन्धन है। उस रक्खे हुए को निकाल

देना मुक्ति हैं

जो–कुछ अपने को मिला हुआ प्रतीत होता है उसे अपना न मानकर, दाता का दिया हुआ जानने से, और जो कुछ अपर्याप्त है उसकी चाह छोड़ देने से सम्बन्ध टूट जाता है।

असंग रहकर स्वरूप में बुद्धि की स्थिति ही बन्धन से मुक्ति पाने का साधन है।

दुखी होते हुए भी जीव बन्धनों से मुक्त क्यों नहीं होता?

दुखी होते हुए भी जीव दुःख-बन्धन से मुक्ति नहीं चाहता; बल्कि वह सुख चाहता है।

दुखी होकर जीव दोषों का त्याग नहीं करता, बल्कि सुखासक्तिवश दोषों की पुष्टि करता जाता है।

दुखी होने पर भी जीव दुःखहारी हरि की शरण नहीं लेता। वह संसार की सहायता से दुःख मिटाने की दुराशा करता है। दुखी होकर वह अपने दुखों का सही कारण जो अपने ही बनाये हुए दोष हैं नहीं समझता; इसके विपरीत वह दूसरों को ही दुःख का कारण ठहराकर द्वेष, ईर्ष्या करता है। इसीलिये बन्धनों से मुक्त नहीं होता।

जीव को यथार्थ ज्ञान (विवेक) कैसे होता है?

जितना ज्ञान या विवेक जीव को सुलभ है उसी के अनुसार प्रेमपूर्वक परस्पर व्यवहार करने से और अधिक ज्ञान, विवेक बढ़ता जायगा। अपने से अधिक ज्ञानी, विवेकी की आज्ञा पालन तथा उनके सुसंग से ज्ञान, विवेक बढ़ेगा। तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा सत्शास्त्र के अध्ययन से ज्ञान, विवेक बढ़ेगा। संसार के प्रपंच से दूर हटकर संसार का ज्ञान होगा और परमात्मा से अभिन्न होकर परमात्मा का ज्ञान होगा।

तीनों शरीरों से असंग होने पर सत्स्वरूप का ज्ञान होगा। ध्यान रखने की बात है– ज्ञान किसी वस्तु से नहीं होता; बल्कि ज्ञान ही वस्तुओं को तथा उनके गुण-स्वभाव को प्रकाशित करता है।

जब भोग का अन्त होता है तब भोक्ता का ज्ञान हो सकता है और जब भोक्ता का अन्त होता है तब सत्यतत्व का ज्ञान होता है।

जोक ुछस् वीकारक रि लयाह`उ सेह टाद`नेप रह`अ ौरअ न्यक ी स्वीकृतियों से अपने-आपको हटा लेने पर आत्मानुभव होता है।

अपने निज स्वरूप की अचलता का बोध ही सत्य ज्ञान है। वह निज स्वरूप सब अवस्थाओं से अतीत है, परे है। निर्विकल्प ज्ञान ही स्वरूप है।

ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती; वरन् प्रकाश होता है और उसी से प्रमाद की निवृत्ति होती है। यह सन्त का अनुभव है।

सब कुछ ज्ञान से उत्पन्न होकर ज्ञान में ही स्थित और ज्ञान में ही विलीन हो जाता है। ज्ञानस्वरूप अखण्ड रहता है। ज्ञानस्वरूप के बोध का साधन पूर्ण मौन है।

सभी विकार, सभी दोष, ज्ञान विवेक की कमी में ही जीवन को घेरे रहते हैं।

देहाभिमान के त्याग से, भोगों में विराग से, विवेकपूर्वक सद्व्यवहार से ज्ञान प्रकाशित होता है। जो सर्व का ज्ञाता है उसके बोध का नाम ज्ञान है।

ज्ञानी की पहिचान क्या है?

ज्ञानी पुरुष उसे ही समझना चाहिये जिसके मन में किसी प्रकार के सुखोपभोग एवं मान-प्राप्ति की तृष्णा न हो। कोई वासना न हो। जिसकी सारी कर्म-प्रवृत्ति सभी के हित-भाव से होती हो।

ज्ञानी पुरुष उसे ही समझना चाहिये जो हर्ष, शोक, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सम्मान तथा अपमान के अवसर पर सम, शान्त एवं अचंचल रहता हो। जो सत्य को जानता है वह असत् वस्तु का लोभी, मोही, अभिमानी नहीं रहता। वह अप्राप्त की इच्छा नहीं करता। प्राप्त वस्तु का, सम्पत्ति का दान करता है। वह दूसरों के शोक को हर लेता है। ज्ञानी क्षमा करने में वीर होता है, दयालु होता है, सबको प्रिय होता है। किसी से द्वेष, विरोध नहीं करता। ज्ञानी सदा अभय तथा निश्चिन्त, नित्य अपने आप में तृप्त, शान्त एवं गम्भीर रहता है। यही ज्ञानी के लक्षण हैं।

सभी विद्वानों में निर्विकार ज्ञान क्यों नहीं प्रकाशित है?

जोम नुष्यअ पनीि वद्याक ाउ पयोगध ानोपार्जनक`ि लये,अ धिकार-प्राप्ति के लिये, सन्मान-प्राप्ति के लिये या सुखद वस्तुओं के संग्रह के लिये करता है; और जो विद्वान होते हुए अभिमानी होता है; जिसमें विद्या का गर्व तथा तृष्णा प्रबल है; जो प्रपंच में ही रस लेता है; जो कहीं रागी है, कहीं द्वेषी है; जो तप से डरता है, चिन्तित रहता है; जिसका मन बहिर्मुख रहता है; जो सुखासक्त, देहासक्त है; जिसकी बुद्धि मलिन रहती है; उसी की बुद्धि में ज्ञान प्रकाशित नहीं होता है।

बुद्धि को निर्मल एवं स्थिर रखने के उपाय क्या हैं?

विनाशी वस्तुओं तथा क्षणिक सुखों का मूल्य घटाकर अविनाशी आत्मा को ही निकट रखने से बुद्धि स्थिर एवं शुद्ध होती है। जड़ के संग से जड़ता, चिन्मय चैतन्य के संग से चैतन्यता आती है।

तृष्णाक`ट यागस`,स न्तस द्गुरुक`स ंगस`,श ास्त्राध्ययनस`त था विचार से बुद्धि निर्मल एवं स्थिर होती है।

मितभाषण कम बोलने से, राग-द्वेष के त्याग से, परमात्मा के स्मरण,

चिन्तन से, परमात्मा में ही पूर्ण होकर रहने से, सदा प्रसन्न रहकर दूसरों की सेवा करने से बुद्धि स्थिर एवं निर्मल होती है।

परमेश्वर की सर्वभावेन शरण लेने से, उनकी कृपा से बुद्धि निर्मल तथा स्थिर होती है।

जिन्हें अपनी बुद्धि के चंचल अथवा मलिन होने का दुःख होता है और उसे निर्मल एवं स्थिर बनाने की प्रबल चाह होती है, उन्हीं की बुद्धि स्थिर निर्मल होती है।

भगवान् के दर्शन किस साधन द्वारा हो सकते हैं?

भगवत् कृपा के द्वारा ही दर्शन सम्भव हैं, साधन द्वारा दर्शन नहीं होते; बल्कि दर्शन की योग्यता आती है। अन्तःकरण का शुद्ध हो जाना ही दर्शन की योग्यता प्राप्त कर लेना है। साधन वही उत्तम और सफल है जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाय अर्थात् मोह, लोभ, अभिमान, ईर्ष्या, द्वेषादि दोषों से रहित हो जाय।

सत्संग मिलने पर भी १६ दोष सद्ज्ञान में बाधक बनते हैं :–

१ आलस्य – जो कर्म अभी करता हो उसे फिर कर लेंगे–ऐसा सोचकर टाल देने को आलस्य कहते हैं। २ प्रमाद–विपरीत निश्चय को प्रमाद कहते हैं, अपनी सीमित ज्ञान के मद को प्रमाद कहते हैं। ३ स्वच्छन्दता – शास्त्र एवं गुरु से कर्तव्य का विवेक प्राप्त करने के पश्चात् भी अपने मन की रुचि अनुसार कर्म अथवा साधन, भजन करने को स्वच्छन्दता कहते हैं। ४ विषयासक्ति ५ व्यर्थ प्रपंच ६ विशेष आहार ७ अनियमित अथवा अधिक निद्रा ८ धन तथा अधिकार का मद ९ अमर्यादित – शास्त्र नियम के बाहर–भोग विलास १० मान, प्रतिष्ठा की चाह ११ दूसरों के अनिष्ट की कामना १२ लोभवश संचय १३ अधिक मेल-मिलाप १४ तुच्छ बातों में, साधारण वस्तुओं में सुख की मान्यता १५ नियम-पालन में दृढ़ता का न होना १६ श्रद्धा की कमी– यह सोलह दोष सत्य-ज्ञान अथवा आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखनेवाले को अपने में न आने देना चाहिये अथवा न रहने देना चाहिये।

वहीं सुलभ भगवान होता

किसी बहाने प्रीतिपूर्वक जब उसका आह्वान होता।।
जिसकी जग से रही न आशा, भक्ति योग की ही अभिलाषा,
प्रेमभाव से जब उसका ही निशिदिन चिन्तन ध्यान होता।। *वहीं सुलभ ...*
जिसमें सुन्दर भाव तरलता, सहिष्णुता सन्तोष सरलता,
दया क्षमा करुणा से रंजित जहाँ, स्वतंत्र विधान होता है।। *वहीं सुलभ ...*

सदा अतिथि सत्कार जहाँ है सबके प्रति शुचि प्यार जहाँ है,
जहाँ सर्वहितकर प्रवृत्ति में भी निवृत्ति का भान होता।। *वहीं सुलभ ...*
जिसका है सेवामय जीवन, भोग-सुखों से अति विरक्त मन,
जिसकी संगति से मानव का निश्चित अभ्युत्थान होता।। *वहीं सुलभ ...*
जहाँ विरह में आँसू बरसें, व्याकुल हृदय दरश को तरसें,
जब वियोग में भी स्वरूप से अभिन्नता का ज्ञान होता।। *वहीं सुलभ ...*
जो अपना कुछ भी न मानता, सब दाता का दिया जानता,
जिसकी सम्पत्ति का दुखियों की सेवा में ही दान होता।। *वहीं सुलभ ...*
अग्नि तत्व सर्वत्र व्याप्त है, घर्षण बिन होता न प्राप्त है,
इसी भाँति उस व्यापक हरि का जहाँ सतत गुण-गान होता।। *वहीं सुलभ ...*
तन धन में न जहाँ ममता है स्वार्थरहित जिसमें समता है,
पथिक शान्तिपद वह पाता है जिसका लक्ष्य महान् होता।। *वहीं सुलभ ...*

शुद्ध अन्तःकरण की पहिचान?

जिसमें सुखोपभोग की कामनायें नहीं रहतीं। सर्वात्मभावना अर्थात् सभी प्राणियों में तात्विक दृष्टि से एकता की अनुभूति होती है। सभी के लिये दय पूर्ण उदार होता है। परमेश्वर के नाते प्राणिमात्र के प्रति दया रहती है। ईश्वर के विधान से जो कुछ भी रोचक या भयानक दृश्य आते हैं, सब ठीक ही प्रतीत होते हैं। अवसर आने पर धैर्य भंग नहीं होता। कष्ट-सहिष्णुता अडिग रहती है। समता साथ नहीं छोड़ती। अपने कर्मफल के अतिरिक्त कोई सुखदाता या दुःखदाता नहीं दिखाई देता। सुखी दशा में सेवा की प्रवृत्ति और दुःखी दशा में विरक्ति सहज बन जाती है। संसार में कुछ भी अपना नहीं प्रतीत होता इसीलिये लोभ, मोह अथवा अभिमान नहीं रहता। किसी की अपेक्षा चाह न रखने के कारण, चाह रहित होने के कारण प्रसन्नता साथ नहीं छोड़ती। 'देह मैं नहीं हूँ' 'यह देह मेरी नहीं है' ऐसी मति होने के कारण सदा आत्मा-परमात्मा का चिन्तन होता रहता है। सांसारिक संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं। अन्तःकरण में एक प्रेमपात्र के अतिरिक्त अन्य किसी का संग नहीं होता। यही शुद्ध अन्तःकरण की पहिचान है।

मानव निर्दोष कैसे हो सकता है?

कोई भी निर्दोष होने की अभिलाषा रखनेवाला मानव निर्दोष के संग से, निर्दोष के स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से उसी प्रकार निर्दोष हो सकता है, जिस प्रकार डाक्टर के संग से, डाक्टरी के स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से

कोई भी डाक्टर हो जाता है। वकील के संग से, वकालत के स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से कोई भी वकील हो जाता है। शिक्षक के संग से, शिक्षा के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई भी शिक्षक हो जाता है। इसी प्रकार, भक्त के संग से, भक्ति के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई भी भक्त हो सकता है। ज्ञानी के संग से, ज्ञान के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई ज्ञानी हो सकता है। प्रेमी के संग से, प्रेम के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई प्रेमी हो सकता है। द्वेषी के संग से, द्वेष के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई द्वेषी हो सकता है। दुष्ट के संग से, दुष्टता के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई दुष्ट हो सकता है। साधु के संग से, साधुता के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई साधु हो सकता है। गुरु के संग से, गुरुता के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से कोई गुरु हो सकता है।

मनुष्य जिसको चाहता है, उसी का स्मरण, चिन्तन करता है। जिसका स्मरण, चिन्तन होता है, उसी को अपने मन में बसा लेता है और उसी मय हो जाता है।

जिस प्रकार देह को, जाति को, नाम को, रूप को अपने में रख लेने पर प्रत्येक मनुष्य उसी के रूप को अपना रूप मानने लगता है, जैसे अपने में विविध उपाधियां रख लेने से वह यही कहता है कि 'मैं एम०ए० हूँ, डाक्टर हूँ, वकील हूँ, ब्रा मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, अमुक हूँ, इत्यादि शब्दों को बोलते हुए वही परिचय देता है, जिसे कि अपने में प्रतिष्ठित कर लिया है। इसी प्रकार ज्ञान को, भक्ति को, प्रेम को, सद्भावों को, निर्दोषिता को अपने में प्रतिष्ठित कर लेने पर उसी से तद्रूपता का अनुभव हो सकता है।

जिसेअ पनेक ोिनर्दोषद ेखनाह ो,व हअ पनेम ें िनर्दोषत त्वक ी प्रतिष्ठा कर ले। जो-कुछ विनाशी है, दोषमय है उसको अपने में किंचित भी स्थान न दे, यही निर्दोष होने का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अपने में निर्दोष तत्व की प्रतिष्ठा किस विधि से हो?

जिस भाव से किसी चित्र में या पत्थर की मूर्ति में भगवान की प्रतिष्ठा की जाती है, और पत्थर को, चित्र को ही भगवान कहा जाता है, उसी प्रकार अपनी चेतना में मनुष्य जिसकी स्थापना कर लेगा, चेतना का वही रूप हो जायगा। उसके विरुद्ध वह अपनी चेतना का नाम रूप नहीं स्वीकार करेगा।

एक व्यक्ति जब अपने में ब्रा मण की स्थापना कर लेता है तब वह अपने को वैश्य, क्षत्रिय या अन्य कोई भी नाम रूप स्वीकार नहीं करता। साथ ही दूसरी जाति का गुण धर्म कर्म भी नहीं धारण करता।

हर एक व्यक्ति ने अपने में किसी-न-किसी जाति की, नाम की,

सम्बन्ध की, उपाधि की, व्यवसाय की, कला की अथवा किसी गुण, स्वभाव की स्थापना अवश्य ही कर ली है। उसी के अनुसार ''मैं ब्रा मण हूँ, क्षत्रिय हूँ या वैश्य हूँ, पति हूँ, पत्नी हूँ, पुत्र हूँ, भाई हूँ, मालिक हूँ, सेवक हूँ, धनी हूँ या भिखारी हूँ, लोहार हूँ, दर्जी हूँ, बढ़ई हूँ, कुम्हार हूँ, बजाज हूँ, सर्राफ हूँ, अमुक अधिकारी हूँ, कामी हूँ, ोधी हूँ, लोभी हूँ, मोही हूँ, उदार हूँ, दयालु हूँ, निष्काम हूँ, तपस्वी हूँ, त्यागी हूँ''— आदि मानना है। इसी प्रकार आगे जाकर वही व्यक्ति कहता है ''कि मैं ज्ञानी हूँ, प्रेमी हूँ, भक्त हूँ और तत्वज्ञ हूँ,

इससे भी पर उठकर वही मानव जब अपने-आप में शिव की स्थापना करता है, तब अनुभव करता है। 'शिवोहम्' ब्र म की स्थापना करने पर उद्गार निकलते हैं—''अहं ब्र मास्मि अर्थात् मैं शिव हूँ, मैं ब्र म हूँ।

अपने में जो कुछ स्थापित कर लिया जाता है उसी से 'मैं' मिल जाता है, और वही अपना स्वरूप मानने लगता है।

बुद्धिमान व्यक्ति को यह निर्णय कर लेना चाहिये कि जब अपने में किसी-न-किसी की स्थापना करनी है, उसी की स्थापना कर ली है और आगे भी करते रहना है, तब स्थापना उसी की क्यों न करें जो निर्दोष हो, निर्विकार हो तथा अविनाशी हो— सर्वशक्तिमान हो। आज तक जिस नाम से, जिस रूप से हम मिले उसी मय बन गये, जिसे अपने में रख लिया उसी के साथ मिलकर 'मैं' कहने लग गये।

जब दोष को अपने में रखकर हम दोषी हो सकते हैं तब निर्दोष की अपने में स्थापना करके हम अपने को निर्दोष भी देख सकते हैं। भक्ति की स्थापना करके हम अपने को भक्त ही कहेंगे। त्याग तथा प्रेम की स्थापना करके अपने को त्यागी, प्रेमी ही समझेंगे। जब हम अपने को निर्दोष, भक्त, त्यागी तथा प्रेमी कहेंगे तब हम अपने रूप के तथा मान्यता के विरुद्ध दोष को, अभक्ति को, राग को तथा द्वेष को उसी प्रकार अपने में नहीं रहने दे सकते जिस प्रकार पहले की स्वीकृति के विरुद्ध दूसरी जाति, दूसरा सम्बन्ध तथा दूसरी िया को नहीं मिलने देते। जिस प्रकार हम जब अपने को किसी के सन्मुख भाई स्वीकार कर लेते हैं तब उसके चाचा, पिता या पुत्र नहीं हो सकते। जब हम अपने को किसी के पुत्र मान लेते हैं तब उसके भाई या पति नहीं बन सकते। स्वीकृत सम्बन्ध के, जाति के एवं गुण के विरुद्ध हम अन्य कुछ नहीं बन सकते। इसी प्रकार जब हम अपने को निर्दोष कहने लगें तब दोष के लिये स्थान देना हमें स य नहीं हो सकता। अपने को त्यागी, प्रेमी कहने लगे तब राग-द्वेष को स्थान देना हमें कहीं प्रिय न होगा।

संग के अनुसार ही हमारा रूप निश्चित है। संग को बदल देना अपने को बदल देना है। हम लोग अपने को जैसा चाहें, जिस रूप में चाहें उसी रूप की अपने में स्थापना करके वैसे ही अपने को बना सकते हैं। अभी तक हमने अपने में किसी-न-किसी जाति की तथा अनेकों व्यक्तियों के सम्बन्ध की अथवा किसी-न-किसी गुण की, कला की, उपाधि की स्थापना कर रक्खी है। उसी के अनुरूप हम अपने को मान रहे हैं। अब हमें अपने में भक्ति की, ज्ञान की, प्रेम की तथा निर्दोष तत्व की अथवा अपने प्रियतम भगवान की एवं गुरुता की स्थापना करके अपने को उसी मय देखना है। यही जड़ के, विनाशी के, दोषों के बन्धन से छूटने का सहज उपाय है।

देहादिक वस्तुओं से ममता कैसे मिट सकती है?

जो हमारा बनाया दोष है, उसे हम अवश्य ही मिटा सकते हैं। जिस किसी के साथ हमने अपनी प्रीति मिला दी वही वस्तु अत्यन्त प्रिय प्रतीत होने लगी और अपनी प्रतीत होने लगी। अब एक ही उपाय है — वह यही कि अपनी प्रीति उससे हटा लें, उसे अपना न माने, तब अवश्य ही ममता मिट जायगी। परन्तु हम अपनी प्रीति तभी कहीं से हटा सकते हैं जब उससेब ढ़करह मेंक ुछश ुभ,स ुन्दर, िहतकर िदखाईद ेय ा फिरज हाँ हमारी प्रीति है वह अति दुखद प्रतीत होने लगे उससे सुख की आशा ही न रह जाय।

देह से प्रीति करके ही हम मोही बने। धन से प्रीति करके हम लोभी बने। अधिकार से प्रीति करके हम अभिमानी बने। विषयजनित रस से प्रीति बढ़ाकर ही हम कामी बने।

जितनेअ ंशोंम ें, िजतनीव स्तुओंए वं व्यक्तियोंस ेह मनेप ्रीतिक ो सीमित कर दिया उतनी सीमा में ही हम रागी हो गये और सबसे उदासीन, विरक्त रहकर जिस किसी को प्रतिकूल पाया उसी के द्वेषी बन गये।

जब तक हमारी प्रीति सीमित रहेगी तब तक भेदभाव मिट ही नहीं सकते; संघर्ष, कलह समाप्त हो ही नहीं सकते; चाहे हम लोग कितने ग्रन्थ पढ़ें या पूजा-पाठ करें।

जिस प्रीति के दुरुपयोग से मनुष्य लोभी, मोही, अभिमानी, कामी, ोधी, ईर्ष्यालु हो सकता है उसी प्रीति को यदि दैवी गुणों के प्रति मोड़ दिया जाय, तो वही व्यक्ति दयालु, क्षमाशील, सन्तोषी, सहिष्णु, उदार, दानी हो सकता है।

उसी प्रीति को सन्त, विरक्त महात्मा में लगा देने से मनुष्य श्रद्धालु हो जायगा। उसी प्रीति को देह से मोड़कर आत्मा में लगा देने से वह तत्वनिष्ठ हो जायगा। उसी प्रीति को भगवान की ओर मोड़ देने से वह

भक्त हो जायगा। उसी प्रीति को समाज-सेवा, देश-सेवा में लगा देने पर आदर्श जनसेवक बन जायगा।

यदि असत् से सत्य की ओर, जड़ से चेतन-तत्व की ओर, देह से आत्मा की ओर, दोषों से गुणों की ओर प्रीति न मुड़ी, तब तो जीवन जहाँ का तहाँ ही रहेगा। यदि प्रीति पलट गई तो जीवन पलट जायगा।

मोह-निवृत्ति के उपाय

जो शरीर अपने बनाये हुए नहीं हैं, बल्कि जो हमारी वासना-पूर्ति के लिये मिले हैं, उन्हें अपना मानना और उन्हें सुखदाता समझना — मोह है।

तत्वज्ञानी महापुरुषों के सुसंग से मोह मिटता है। शरीर एक ढाँचा है। यह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तत्वों के सहयोग से जिस प्रकार बना है उस पर विचार करने से मोह दूर होता है।

देह की जड़ता और अपने चैतन्य स्वरूप का विवेक होने से भी मोह-निवृत्ति होती है।

सुखोपभोग की चाह न रहने से तथा निष्काम सेवा करने से मोह नहीं रहता है।

"मोहवश प्राणी किस प्रकार दुःख भोगता है", इस पर विचार करने से मोह-त्याग का बल आता है।

संसार में किसी भी वस्तु एवं व्यक्ति को अपनी न मानने से मोह से निवृत्ति मिलती है।

सबसे निराश होकर भगवान के प्रति समग्र प्रीति मुड़ जाने से मोह नहीं रह जाता है।

लोभ-निवृत्ति के उपाय

दूसरों के समक्ष अपने को धनसम्पन्न देखने और दिखलाने की लालसा से और मिली हुई सम्पत्ति को अपनी मान लेने से लोभ प्रबल होता है।

मिले हुए धन को अपना न मानकर प्रारब्धवश उसे अनिश्चित समय तक के लिये मिला हुआ समझने से लोभ दूर होता है।"इतिहास में बड़े-बड़े सम्पि ाशाली लोभियों के साथ कितना धन गया" इस पर विचार करने से लोभ-त्याग का संकल्प आता है।

उदारतापूर्वक सुपात्रों को दान देने से या फिर धन को निस्सार समझकर सार्वजनिक सेवा में खरच देने से अथवा अपनी रुचि-पूर्ति में प्राप्त धन को व्यय कर देने से लोभ नहीं रहता। किसी भी लोभी की मानसिक दशा का निरीक्षण करने से अथवा लोभवश होनेवाली पाप-प्रवृ ि पर

विचार करने से लोभ, त्याग का संकल्प दृढ़ होता है।

अटूट श्रद्धा एवं भगवद्भक्ति की अभिलाषा प्रबल होने से भी लोभ नहीं रहता।

किसी के प्रति प्रगाढ़ प्रीति हो जाने से उसके अतिरिक्त धन के प्रति लोभ नहीं रहता।

काम का स्वरूप

जहाँ से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सुखकर प्रतीत होते हैं और उस रस से तृप्त होने की इच्छा प्रबल होती है, वहीं से काम का जन्म होता है।

प्रेममय परमात्मा से मिली हुई प्रीति का उपयोग जब इन्द्रियों के विषयों के प्रति होने लगता है वहीं से काम का जीवन परिपुष्ट होता है।

एक सन्त से सुनी हुई परिभाषा में – ''आत्मा के सौन्दर्य को शरीर में देखना अथवा परमात्मा के सौन्दर्य को संसार में देखना और आत्मा तथा परमात्मा से विमुख हो जाना ही काम की उपासना है।'' किसी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपने शरीर का श्रृंगार करना, अपने गुणों को या अन्य विशेषताओं को अभिव्यक्त प्रगट करना ही कामोपभोग की तैयारी है।

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुखद, सुन्दर मानकर उसके संयोग में अपनी रुचि-पूर्ति का रस लेना ही कामोपभोग है।

जो परमात्मा से विमुख बनाकर इन्द्रिय-विषयों में आसक्त बना देता है वह काम ही है।

जब तक संसार की कोई भी वस्तु या व्यक्ति सुन्दर, मनोहर प्रतीत होती है अतब तक दय तथा मस्तिष्क काम पास से अथवा काम राज्य से बाहर नहीं हो सकते।

जब तक जीव संसार के किसी प्रकार के सुख से तृप्त होने की आशा रखता है तब तक उसकी इन्द्रियों में और मनसहित बुद्धि में काम का ही निवास रहता है। यह काम ज्ञानियों का प्रबल शत्रु है। सदा भगवान् के सन्मुख रहने वाले शरणागत भक्तों पर भले ही इस काम का प्रभाव नहीं पड़ता।

किसी सुन्दर रूप को बार-बार देखने वाले, किसी के आलिंगन में स्पर्श रस लेनेवाले व्यक्ति बुद्धि से न चाहते हुए भी मन से काम वासना को ही प्रबल बनाते रहते हैं।

जो कुछ अप्राप्त है, उसकी प्राप्ति तथा उपभोग की इच्छा ही काम की गति है।

काम-दमन के उपाय

व्रत, उपवास, स्वल्प आहार करने से काम दबा रहता है। दूसरों की सेवा करते हुए अपनी रुचि-पूर्ति का पूर्ण निरोध करने से काम के प्रबल होने का अवसर नहीं आता।

विचार-दृष्टि से सुखोपभोग का परिणाम दु:ख रूप देखने से भी काम का बोध होता है।

एक सन्त के अनुभव अनुसार, योगाभ्यास तथा योग-सिद्धि से काम दब जाता है। श्रम से शिथिल हो जाता है। प्रेम से काम का नाश होता है। विद्याध्ययन तथा बौद्धिक एवं मानसिक श्रम में अत्यधिक व्यस्त रहने से भी काम का वेग नहीं सताता।

आयुर्वेद के सिद्धान्त से, औषधि का सहारा लेकर अर्थात् केले के वृक्ष में दो सप्ताह सुपारी रखकर खाते रहने से या फिर भूनी फिटकरी एक दो माशे मिश्री के शरबत के साथ पीने से काम शिथिल हो जाता है। इच्छाओं का अन्त होने में काम का अन्त होता है।

''बिनु सन्तोष कि काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।।
राम भजन बिनु मिटहिं न कामा। थल विहीन तरु कबहुँ न जामा।।

--सन्त तुलसीदास

क्रोध क्यों आता है?

कामनापूर्ति में बाधा पड़ने से अर्थात् इच्छा के प्रतिकूल परिस्थिति में ोध आता है।

शक्ति कम होने से और इच्छायें अधिक प्रबल होने से ोध उमड़ता रहता है।

लोभ की प्रबलता में, लाभ की अथवा प्राप्त की हानि होने पर और अभिमान की प्रबलता में अनादर, अवज्ञा अथवा अपमान होने पर ोध प्रबल हो जाता है।

त्याग का बल न होने पर अथवा विवेक और प्रेम की कमी होने पर कामनावश ोध आ जाता है।

क्रोध-शमन के उपाय

दैवी सम्पत्ति की प्रधानता जिस पुरुष में है उसे ोध नहीं आता। जहाँ पूर्ण विनम्रता और उदारता है ऐसे निर्लोभी, निरभिमानी को भी ोध नहीं आता।

सब-कुछ परमेश्वर से मिला हुआ जानने से, अपना कुछ न मानने से अर्थात् दीन, अकिंचन होकर रहनेवाले आस्तिक को ोध नहीं आता।

जिसे दैवी विधान का ज्ञान है, जो भगवान का भक्त है उसे भी ोध नहीं आता। ोध को चाण्डाल की भाँति अपवित्र समझने से, उसे अनर्थ

विवेकपूर्वक अभिमान मिटाने का उपाय

१ अपने को सर्वशक्तिमान प्रभु को समर्पित कर देने से अभिमान नहीं आता। २ अपने साथ अपना कुछ न मानने से, सब कुछ परमेश्वर से ही मिला हुआ जानने से अभिमान मिटता है। ३ संसार में आत्म-स्वरूप से सभी अभिन्न हैं, कोई दूसरा है ही नहीं, इस प्रकार स्वरूप की एकता का बोध होने पर भेदभाव का अभिमान दूर होता है। ४ अपने जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य प्राप्त करने के लिये सारी शक्ति से प्रयत्न कर लेने पर, सबसे और अपने प्रयत्न से निराश होने पर अभिमान नहीं रहता है। ५ तीनों शरीरों से असंग होकर आत्मज्ञान होने पर अभिमान निवृत्त होता है। ६ अनन्त चिद्घन तत्व में अहंरूपी अणु के टूट जाने पर सीमित का अभिमान मिट जाता है।

एक सन्त का वचन है कि "बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है और अभिमान त्याग देने पर सारी बुराइयाँ अच्छाइयों में परिणत हो जाती हैं।

अभिमानी सन्यासी-साधुओं की अपेक्षा विनम्र रहकर ईश्वर-चिन्तन करने वाला गृहस्थ आगे निकल जाता है।

किसीप्र कारके अभिमानसे विचार-शक्तिकुण्ठितहो जाती है।

गरीबी एवं नम्रता सब शुभ कमो से श्रेष्ठ हैं, इससे अभिमान का अंधेरा बुद्धि-दृष्टि को आच्छादित नहीं कर पाता।

जब तक कोई बड़ा-छोटा दिखाई देता है, तब तक दीनता और अभिमान के ताप से जीव तपता रहता है।

जो अभिमानी हैं, वही देह की पूजा करने और कराने में सन्तुष्ट होते रहते हैं।

यथार्थ ज्ञान, विवेक वही है जिससे अभिमान मिट जाये। जहाँ तक मान में रस आता है, अपमान-अनादर का दुःख होता है, वहाँ तक अभिमान का रंग चढ़ा हुआ ही समझना चाहिये।

देख लो

इस जग में कितना ही तुम, स्वच्छन्द विचार कर देख लो।
तृप्ति न होगी, फिर भी कौतुक इधर-उधर के देख लो।।

जिस सुख को प्राणी अपनाता, वही ईश से विमुख बनाता।
सुख ही है सर्वत्र नचाता, सुखासक्त प्राणी दुख पाता।।

नहीं समझ में आए तो, तुम भी जी भर के देख लो।
सीखो जग में सेवा करना, सीखो दुखियों के दुख हरना।।

पाप की जड़ मानने से भी ो ा का दमन हो जाता है।

ोध से रक्त विषैला हो जाता है, मन मैला हो जाता है—ऐसा भयानक परिणाम देखने से भी ोध से बचे रहने का दृढ़ संकल्प होता है।

ोध के परिणाम में ोधी को कितने भयानक दुःख, कष्ट देखने पड़े हैं, ोध के आवेग में अपने स्वजनों की भी हत्या कर देनेवाली अनेकों घटनायें सुनने में आती हैं, इस पर विचार करने से भी ोध से भय लगता है।

क्रोध के पश्चात् प्रायश्चित

१ ोध आने पर दृढ़तापूर्वक मौन हो जाना चाहिये २ ोध आने पर जल पीना चाहिये, स्नान करना चाहिये ३ ोध आने पर दो घंटे तक भगवान का नाम जपना चाहिये ४ ोध आने पर उल्टी गिनती गिनना चाहिये ५ ोध आने पर तत्क्षण एकान्त में हट जाना चाहये ६ ोध आने पर ोध ही पर ोध करना चाहिये ७ ोध आने पर अपने प्रिय का या गुरुदेव का अथवा प्रेममय भगवान का स्मरण करना चाहिये ८ ोध न करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये।

अभिमान

असत्य से अभिन्नता और सत्य से भिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है।

दूसरे को देखकर किसी भी प्रकार की अपने में विशेषता और दूसरे व्यक्ति में न्यूनता देखकर सन्तुष्ट होना और अपनी विशेषता को अभिव्यक्त प्रगट करना अभिमान है।

कुल के साथ, धन के साथ, बल के साथ, विद्या के साथ, रूप के साथ, तप के साथ, त्याग के साथ, सद्गुणों के साथ अभेद सम्बन्ध जोड़ लेने से अभिमान का जीवन चलता है।

जिस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकार का अभिमान संसार को दीन-हीन बनाता है, वैसे ही उसके विरुद्ध यदि भगवान के साथ, सत्चितस्वरूप आत्मा के साथ, निर्विकार ज्ञान के साथ अथवा निष्काम प्रेम के साथ अभेद सम्बन्ध अनुभव होने लगे, तो यह अभिमान संसार की दीनता, हीनता से मुक्त बना देता है।

जितना अधिक अभिमान प्रबल होगा उतना ही अधिक अपने से अधिक कुलीन के सामने, धनवान के सामने, बलवान के सामने, विद्वान के सामने, रूपवान-गुणवान के सामने तथा तपस्वी-त्यागी के सामने हीनता का अधिक दुःख होता है।

सीखो भव से पार उतरना, सत पथ में अब कहीं न डरना।
जो आया है जाएगा, यह धीरज धर के देख लो।।

जग में जो कुछ बोया जाता, कई गुना बढ़कर वह आता।
जो सुख देता वह सुख पाता, मानव अपना भाग्य विधाता।।

यदि तुमको विश्वास न हो तो, कुछ भी करके देख लो।
जिसको तुमने अपना माना, यहाँ किसी का नहीं ठिकाना।।

निश्चित है जिसका छुट जाना, व्यर्थ न उससे मोह बढ़ाना।
तन में रहते हुए पथिक तुम, मन से मन के देख लो।।

धर्म विरुद्ध जीव के लक्षण

१ जो धैर्यपूर्वक परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता। २ जो स्वयं क्षमा चाहता है, परन्तु दूसरों से भूल होने पर क्षमा नहीं करता। ३ जो इन्द्रियों के विषय-वेग को दमन नहीं करता। ४ जो किसी भी युक्ति से दूसरों के अधिकार की वस्तु चुराता है। ५ जो शरीर को स्वच्छ और अन्तःकरण को शुद्ध नहीं रखता। ६ जो मन की रुचि अनुसार ही सब कार्य करता है, विचार नहीं करता। ७ जो बुद्धि की सम्मति का विरोध करता है अथवा बुद्धिहीन रहता है। ८ जो अविद्यापूर्वक कार्य करता है, विद्या का दुरुपयोग करता है। ९ जो असत्य को ही सत्य मानता है, सत्य को जानने को अभिरुचि नहीं रखता, दोषों का त्याग करते हुए जो गुणों को नहीं अपनाता। १० जो ोध करता रहता है, दूसरों को अपने सुख के लिये दुःख देता है वही अधर्मी प्राणी है। ११ जो दूसरों की सेवा-सहायता न करके अपना ही सुख-स्वार्थ देखता है। १२ जो यज्ञकर्म को जानता-मानता नहीं, केवल अपने ही सुखोपभोग में शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग करता है। १३ जो अपने धर्मनीति के ग्रन्थ अथवा ऋषियों मुनियों की वाणी का अध्ययन एवं मनन न करके प्रपंच कथा पढ़ने सुनने में रस लेता है। १४ जो लोभी, मोही, अभिमानी, ईर्ष्यालु, द्वेषी तो होता है; पर उदार, दानी, विनम्र, प्रेमी, ईश्वर-भक्त नहीं होता– इस प्रकार के लक्षणों से युक्त प्राणी ही धर्म विमुख माना गया है।

धर्मविमुख व्यक्ति आसुरी प्रकृति का होता है

दम्भ, दर्प, अभिमान, ोध, कठोरता, मूढ़ता, अशुचिता, अनाचार, असत्य,न ास्तिकता,भ ोगासक्ति,म न्दबुद्धित्ता,अ पकारीप्रवृत्ति, ूरता, चिन्ताभ्रमितता, सतृष्णता, विधिविहीन यज्ञादि शुभ कर्म करना, अविवेक दशा में समझ का गर्व होना – यह आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं।

आसुरी पथ नरक का पथ है, अधिक चौड़ा है इसमें भीड़ें चलती हैं। दैवी पथ संकरा है, इसमें संयमी ही चल सकता है।

आसुरी प्रकृतिवाले को ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, इन्द्रियलोलुपता, लालच आदि अग्नि की तरह जलाते रहते हैं। दैवी प्रकृतिवाले को दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सरलता आदि सद्गुण शीतल रखते हैं।

एक ऋषि ने चार लक्षणों से धर्म का वर्णन किया है– वेद, स्मृति, सदाचार और जो अपने अनुकूल तथा प्रिय कार्य है उसे करना धर्म है।

एक सन्त धर्म को दो ही लक्षणों में पूर्ण कर देते हैं :–

१ जो व्यवहार तुम्हें रुचिकर न हो उसे दूसरों के साथ न बर्तो।

२ जो तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो वही व्यवहार दूसरों के प्रति भी करते रहो, यही धर्म का सार है। धर्म और ईश्वर एक है, धर्म को न माननेवाला ईश्वर को नहीं मानता।

सर्व समर्थ भगवान् के मत में गीतोक्त अमृतमय धर्म

१ द्वेषरहित २ सबका मित्र ३ दयावान् ४ ममता से रहित ५ अहंकार से रहित ६ सुख दुःख में सम ७ क्षमाशील ८ सदा योग में लीन चित्त, ९ सन्तुष्ट १० सारी इन्द्रियों तथा मन पर अधिकार ११ दृढ़ निश्चयी १२ समर्पित मन और बुद्धि १३ किसी को उद्वेग क्षोभ न पहुंचानेवाला १४ स्वयं किसी से क्षोभ को उद्वेग को प्राप्त न होनेवाला १५ हर्ष, अमर्ष, उद्वेग के प्रभाव से मुक्त १६ भय से रहित, १७ आकांक्षा से रहित १८ भीतर– बाहर शुद्ध रहनेवाला १९ कार्यकुशल– दक्ष २० पक्षपातरहित २१ दुःखों के प्रभाव से मुक्त २२ नवीन कार्य आरम्भ करने की रुचि से रहित २३ चिन्तारहित २४ कामनारहित २५ अशुभ या शुभ कमो के फल का त्यागी २६ शत्रु, मित्र, मानापमान, शीत–उष्ण के दुःख–सुखादि द्वंद्वों में सम २७ निन्दा– स्तुति में सम रहकर मौन अथवा मननशील २८ जिस प्रकार शरीर– निर्वाह चलता हो उसी में सन्तुष्ट २९ संसार में कहीं अपना गृह न माननेवाला ३० स्थिर बुद्धिवाला– भगवान् का भक्त जो कोई भी है वही भगवान् को प्रिय है; क्योंकि भगवान ने इन तीस लक्षणों को अमृतमय धर्म कहा है।

धर्म की व्याख्या

१ एक सन्त के शब्दों में योग द्वारा आत्मदर्शन ही परम धर्म है। २ कोई शक्तिशाली मानव यदि धर्मज्ञान से रहित है, तो वह उस ष्ट-पुष्ट बलवान पागल के समान है, जिसका शरीर किसी के काम नहीं आता। ३ जिस देश के पूंजीपति तथा विद्वान् धर्मज्ञानशून्य, विषयासक्त हो जाते हैं वह देश या समाज पतित हो जाता है। ४ धर्मात्मा पुरुष किसी का ऋणी

नहीं रहता, वह अपना सारा कर्तव्य भगवान् के नाते अभिमानरहित होकर करता है। ५ धर्मात्मा पुरुष की प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नता के लिये होती है। ६ जिस धर्म के मूल में मान की, माया की अथवा भोग-सुख की कामनायें छिपी रहती हैं उस धर्म के द्वारा शान्ति स्थापित नहीं हो सकती—यह सन्त का अनुभव है। ७ धर्म चार भाई हैं — उनमें सबसे बड़े भाई धर्म का अधिकार जब धन में नहीं रहता तब छोटे भाई राजा, चोर, अग्नि उस धन पर अधिकार जमा लेते हैं। ८ जिस धन का सदुपयोग धर्म, दान में नहीं होता वह धन काम, ोध, ईर्ष्या, द्वेष में नष्ट हो जाता हैं। ९ सभी जातियों के लिये जो हितकर है उसी का नाम सनातन धर्म है। १० अपने हित के लिये जिसका धारण करना अनिवार्य है वही धर्म है। ११ सर्वहितकारी प्रवृत्ति मानव धर्म है। १२ ईश्वर-मय जीवन धर्म का सत्य स्वरूप है। १३ समता का व्यवहार सद्गतिदाता धर्म है १४ निष्काम प्रेम धर्म का जीवन है। १५ अहिंसात्मक सेवा धर्म की शक्ति है। १६ धर्म का आरम्भिक फल लौकिक उन्नति और अन्तिम फल मोक्ष है।

यज्ञ के भेद तथा उपभेद

कर्मयज्ञ, उपसनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ— इस प्रकार यज्ञ के तीन भेद होते हैं। कर्मयज्ञ के चार प्रकार— स्नान, संध्या आदि नित्य कर्म; किसी निमि ा से पुण्य कर्म नैमित्तिक कर्म; श्राद्ध आदि काम्य कर्म; जो कर्म सेवाभाव से किये जाते हैं, जिनके पीछे कोई चाह नहीं रहती वह आध्यात्मिक कर्म।

दान भी कई प्रकार का होता है। यह सात्विक, राजस तथा तामस—तीन प्रकार के भाव से दिया जाता है।

अभयदान, विद्यादान, धनदान, अन्नदान, भूमिदान, पुण्यदान, मानदान, कन्यादान इत्यादि।

जिसका धन दान के लिये, विद्या सत्कर्म के लिये, चिन्ता परमात्मा के लिये और वचन परोपकार के लिये है, वे पुरुष धन्य हैं। दान के सुपात्र :— तपस्वी, विद्वान्, यज्ञकर्ता, सन्ध्या-गायत्री का उपासक — यही सुपात्र हैं।

ब्राह्मण के लक्षण

वेदाध्ययन; देवपूजा; ब्र मध्यान; काम, ोध, लोभ से रहित; माया, मोह,म मतास ेश ून्य;क्ष ामाक रनेम ेंव ीर;श्र ेष्ठग ुणोंक ाह ीप क्षल ेकर आचरण; दान करने का स्वभाव; इन्द्रियदमन; पवित्रता एंव सत्यभाषण— यही ब्रा मणों के लक्षण हैं।

क्षत्रिय के लक्षण

संरक्षण करने का स्वभाव, तप में उत्साह, दान में तत्परता, अध्ययन तथा ब्रा मणों में भक्तिभावना—यह क्षत्रियों के लक्षण हैं।

वैश्य के लक्षण

अर्थोपार्जन ही सहज स्वभाव, पशु सेवा, कृषि, यज्ञ, दान, स्वाध्याय, देवता, ब्रा मण का पुजारी— यही वैश्य के लक्षण हैं।

शूद्र के लक्षण

ब्रा मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों की सेवा करने की आदत। हाथों के द्वारा होनेवाले कायो में कुशल अर्थात् दस्तकारी, पूजा-पाठ— यही शूद्रों के लक्षण हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के साथ शरीर शूद्रवर्ण का है, इन्द्रियां वैश्यवर्ण की हैं, मन क्षत्रियवर्ण का और बुद्धि ब्रा मण वर्ण की है।

सभी वणो में सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी, स्वभाव में से किसी न किसीक ीप्रधानतार हाक रतीह ै।द ैवीप्रकृतिक ेप ुरुषश ाास्त्राध्ययन करते हैं, आसुरी प्रकृति के मनुष्य अखबार किससे-कहानी पढ़ते हैं, दैवी प्रकृति के पुरुष श्राद्ध-तर्पण तथा साधु ब्रा मण भोज करते हैं। आसुरी प्रकृति के मनुष्य मुवक्किलों को, अफसरों को खिलाते-पिलाते हैं। दैवी प्रकृतिवाले जीवों को अन्नदान देते हैं। आसुरी प्रकृतिवाले यार दोस्तों को पार्टी देते हैं। दैवी स्वभाववाले अतिथि, सत्कार करते हैं। आसुरी स्वभाववाले होटल खोलते हैं। दैवी प्रकृति के व्यक्ति यज्ञ-आहुति देते हैं। आसुरी प्रकृति के व्यक्ति साहबों की डाली, रिश्वत आदि में खर्च करते हैं।

शरीर द्वारा होने वाले चार पाप

शरीर में बल के होते हुए, आलस्य में बैठे रहना, निर्बलों से अपने शरीर की सेवा लेना, स्वयं किसी की सेवा में हाथ-पैर न हिलाना— शरीर का पाप है। शरीर के बल द्वारा दूसरे जीव की हिंसा करना, कष्ट देना पाप है। शरीर द्वारा दूसरों की वस्तु चुराना पाप है। शरीर द्वारा किसी के साथ दुराचार, व्यभिचार करना पाप है।

शरीर द्वारा होने वाले चार शुभ कर्म

१ विधिपूर्वक दूसरों की सहायता एवं सेवा में श्रम करना। २ शरीर से दान देना। ३ शक्ति प्राप्त करने अथवा दुर्बलता दूर करने के लिये तप करना। ४ ब्र मचर्य द्वारा शक्ति संचित करना— यह चार शुभ पुण्यकर्म शरीर द्वारा होते हैं।

वाणी द्वारा होने वाले चार पाप

१ असत्य भाषण २ दूसरों की निन्दा ३ कठोर वचन सुनाकर दूसरों को दुःख देना ४ व्यर्थ विवाद करना।

वाणी द्वारा होने वाले चार शुभ कर्म

१ प्रिय सत्य बोलना २ परमात्मा का गुणगान एवं नाम-जप करना ३ शास्त्रों की व्याख्या तथा धर्म, कर्तव्य सम्बन्धी सन्देश सुनाना ४ हितकारी वचनों से दूसरों को सुखी, सन्तुष्ट करना।

बुद्धि से न चाहते हुए भी मन को पापकर्म में कौन प्रेरित करता है?

१ जिसकी सत्ता से सभी प्राणी सुख में रमण करते हैं उस राम से विमुख रहनेवाले जीव को काम-सुखोपभोग की कामना– पाप में प्रेरित करता है २ जो कुछ प्राप्त है उससे भी अधिक का भोग-प्राप्ति तृष्णा भी पापी बनाती है। ३ लोभवश अनेकों पाप होते हैं। ४ अभिमान ५ ोध का वेग ६ मदान्ध दशा ७ ईष्या-द्वेष ८ ँच-नीच की भेद दृष्टि ९ जो कुछ अपना मान लिया है उसका राग तथा १० सीमित प्रीति, के कारण मन से अनेकों पाप अपराध बनते रहते हैं।

पुण्यकर्म में प्रवृत्ति किस प्रकार हो?

धर्मपरायण, विरक्त, महापुरुषों की सुसंगति से पुण्यकर्म की प्रेरणा मिलती है। गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा भी पुण्यकर्म में प्रेरित करती है। सद्विवेक पुण्य को ही प्रेरणा देता है। सर्वहित की भावना प्रबल होने पर स्वतः पुण्य कर्म होते हैं। कामनारहित प्रीति भी पुण्य की प्रेरिका है। कर्तव्यबुद्धि से सेवा करनेवाले सेवक भी पुण्यकर्मी होते हैं। आस्तिक भक्त के सभी कर्म पुण्यमय होते हैं। दैवी सम्पत्ति सदा पुण्य की प्रेरणा देती है। सतोगुणी बुद्धि सदा पुण्यकर्म का ही पक्ष लेती रहती है।

बुद्धिबर्द्धक उपाय

मन की प्रत्येक इच्छा के पीछे उचित, अनुचित, हितकर या अहितकर का विचार करने से बुद्धि बलवती होती है।

श्रद्धापूर्वक गुरुजनों का, विद्वानों का संग करते रहने से बुद्धि में विचारशक्ति बढ़ती है। कोई धर्मग्रन्थ उतना ही उत्तम दीखता है जितनी बुद्धि में समझने की योग्यता होती है।

एकान्त रहकर शास्त्र-अध्ययन से भी बुद्धि बढ़ती है। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण की खोज तथा गुणदोष की छानबीन एवं तर्क द्वारा प्रत्येक प्रचलित प्रणाली के पीछे सत्य की खोज से भी बुद्धि विवेकवती होती है।

गुरु–आज्ञानुसार सभी कार्य करने से भी बुद्धि में योग्यता आ जाती है।

अध्ययनकाल में ब्र मचर्य पालन करते रहने से भी बुद्धि बलवती होती है।

आयुर्वेदिक मतानुसार– सात माशे भिगोये हुए जौ, सोंठ मिलाकर प्रातः खाने से बुद्धि तीव्र होती है; अथवा साढ़े तीन माशा जव में दाल चीनी मिलाकर खाने से भी बुद्धि बढ़ती है। ब्रा मी १ तोला, बच ६ माशा, मीठा कूट ६ माशा, बंसलोचन १ तोला, छोटी इलायची का दाना १ तोला, कद्दू के बीज २ तोला, मालकागनी १ तोला, उस्तखद्दूस ६ माशा, बनफ्शा ६ माशा, धनिया ६ माशा, गोरखमुण्डी ६ माशा, गुलाब के फूल १ तोला, बादामगिरी १० दाना, मिश्री ८ तोाल, सब औषधि पीसकर ६ माशा खूराक चाँदी या सोने के वर्क मिलाकर मक्खन-मलाई के साथ खाने से बुद्धि बढ़ती है।

मूंगा की भस्म, सारस्वत घृत, मालकागनी का तेल, बुद्धिवर्द्धक है। ''ऐं सच्चिदेकं ब्र म'', इस मन्त्र का नित्य जप करने से भी बुद्धि बढ़ती है।

भक्त और मुक्त होने के लिये बुद्धियोगी होना आवश्यक है।

भोग एवं ऐश्वर्य में जो आसक्त हैं वह बुद्धि योगी नहीं हो पाते। जब तक कहीं भी राग, भय, ोध, चिन्ता, सुखोपभोग की कामनायें हैं, तब तक बुद्धि स्थिर नहीं होती।

जो कोई मोहरहित होकर विरागी, सत्यानुरागी है, जिसे द्वन्द्वों के मध्य सम रहने की योग्यता प्राप्त हो गई है, जिसने कामनाओं का त्याग करना ही अपने लिये हितकर समझ रक्खा है, उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

कछुआ की भांति जो अवसर आने पर अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

जो अपने स्वरूप की महिमा को जानकर सदा सन्तुष्ट एवं प्रसन रहता है उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

आत्मा में अनन्त शक्ति है, सामर्थ्य है एवं अनन्त ज्ञान है। यह सब कुछ बुद्धियोग के द्वारा जागृत होता है। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन को बुद्धियोगी होने की विशेष रूप से सम्मति दी है।

जिसकी प्रकृति में सतोगुण की प्रधानता होती है, उसी की बुद्धि अभिलाषा प्रबल होने पर स्थिर हो सकती है।

भूलें न तुम्हें हम हे भगवान

कितना ही जग में सुख पायें, कितने ही हम पर दुख आयें,
सुख में सेवा, दुख में विरक्त होने का बल दो दयानिधान।।
जिससे कि विषमता मिट जाती, जिसके द्वारा समता आती,
आपकी कृपा से सदा सुलभ, उस बुद्धि योग का दे दो दान।।

रहती है जहां अशान्ति नहीं, टिक पाती जिसमें भ्रान्ति नहीं,
जिससे त्यागी प्रेमी हों हम, वह दोष विनाशक दे दो ज्ञान।।
जिससे कि पतन होने का डर, जो है अनेक पापों का घर,
जो विमुख बना देता तुमसे, रह जाय न मुझ में वह अभिमान।।
निज मन की करके देख लिया, अब वही कर लो जो न किया,
मैं पथिक तुम्हारी शरणागत, अपनी अमृतमय दे दो ध्यान।।

तमोगुण की वृत्तियाँ

१ ोध असहिष्णुता २ लोभ ३ झूठ बोलने का स्वभाव ४ हिंसा शरीर अथवा वाणी से किसी को कष्ट देना ४ याचना ५ पाखण्ड ६ आवेशपूर्वक श्रम ७ कलह ८ शोक ६ मोह १० विषाद ११ दीनता १२ निद्रा, आलस्य, तन्द्रा १३ आशा १४ भय १५ अकर्मण्यता– यह सब तमोगुण की वृत्तियां हैं।

रजोगुण की वृत्तियाँ

१ इच्छा २ प्रयत्न ३ घमण्ड ४ तृष्णा असन्तोष ५ ऐंठ अकड़ ६ लोभ ७ भेद-बुद्धि ८ विषयभोगों में अभिरुचि ६ युद्ध के लिये या किसी सांसारिक लाभ के लिये मदयुक्त उत्साह १० यश की लिप्सा ११ हास्य १२ परा म १३ हठपूर्वक उद्योग– यह रजोगुण की वृ ियाँ हैं।

सतोगुण की वृत्तियाँ

१ शम मन का संयम २ दम इन्द्रियों का निग्रह ३ तितिक्षा सदी-गर्मी, भूख-प्यास में सहनशीलता ४ विवेक ५ तप अर्थात् स्वधर्म पालन में धीरज धरकर कष्ट सहते जाना ६ सत्य का ही आदर तथा पक्ष ७ दया ८ स्मृति ६ सन्तोष १० अशुभ, असुन्दर एवं अनावश्यक का त्याग ११ विषयों के प्रति अनिच्छा १२ गुण तथा सद्ज्ञान एवं प्रेम के प्रति श्रद्धा १३ लज्जा १४ आत्मरति अर्थात् आत्मा के प्रति प्रीति १५ दान १६ विनयभाव १७ सरलता इत्यादि–यह सब सतोगुणी वृ ियाँ हैं।

''इन तीनों गुणों की वृत्तियों में किस गुण की कौन-कौन वृत्ति अपना कार्य करती है।''– इसका निरीक्षण करना चाहिये।

पूर्णता प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है

मानवज ीवनक `प ुरुषार्थक ीअ न्तिमस फलताय हीह ै किकसी प्रकार से त्याग पूर्ण हो, ज्ञान पूर्ण हो, शक्ति पूर्ण हो, प्रेम पूर्ण हो, आनन्द पूर्ण हो और जीवन पूर्ण हो।

त्याग की पूर्णता के मुख्य कर्तव्य

आलस्य छोड़ो। संसार से मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी न मानो। सुखोपभोग की तृष्णा छोड़ो। अपना अधिकार छोड़ो। किसी के संयोग से दृढ़ हुई अहंता , अधिकार छोड़ो। सभी प्रकार की चाहों को छोड़ दो। सभी प्रकार की वासना को छोड़ो। अन्त में छोड़ने के अभिमान को छोड़ दो। पूर्ण त्याग होने पर ही परम शान्ति सुलभ होती है।

ज्ञान की पूर्णता के मुख्य उपाय

जितना ज्ञान है उसके विरुद्ध कभी कुछ न करो। विरक्त ज्ञानी महापुरुषोंक ीव ाणीक ाम ननत थाध ार्मग्रन्थोंक ाअ ध्ययनक रतेर हो। विरक्त महात्माओं का सत्संग करते रहो। देह को अपनी न मानकर, देह के रूप में अपना रूप न मानकर अपने सत्स्वरूप की खोज करो। जो कुछ दीखता है उसे सत्य न मानकर जिसके द्वारा सब कुछ प्रतीत होता है उसे जानो। पूर्ण तत्व के बोध के लिये जो कुछ अपूर्ण है उससे विमुख होकर मौन रहकर जो शेष है उसे जानो। पूर्ण से मिलकर ही ज्ञान की पूर्णता हो सकती है।

शक्ति की पूर्णता के मुख्य उपाय

ोध के वेग को रोक लो। कटु वचन कहने में तत्पर वाणी के वेग को रोक लो। कामोत्तेजित इन्द्रिय के वेग को वश में कर लो। क्षुधा के वेग को भी धीरज धारण कर सह लो। स्वादलोलुप रसना के वेग को भी अधिकार के बाहर न होने दो। मन के वेग को भी भगवत्-चिन्तन में बदल दो। मन की रुचि पूर्ति के लिये कहीं उतावले, अधीर न बनो। इस प्रकार शक्ति का अधोमुखी प्रवाह रोकने से ध्र्वमुखी हो जाता है और वही प्रवाह अनन्त शक्ति के भण्डार तक पहुँच जाता है।

शक्ति के दुरुपयोग से दुर्बलता और सदुपयोग से सबलता बढ़ती है। सबल होने के लिये यदि शरण लो, तो सर्वशक्तिमान परमात्मा की शरण लो। परमात्मा इस शरीर में आत्मा के रूप में नित्य प्रकाशित है, निरन्तन विद्यमान है। उनके सन्मुख होकर रहना ही शक्ति की पूर्णता प्राप्त करना है।

प्रेम की पूर्णता के लिये मुख्य उपाय

अपने प्रियतम के अतिरिक्त अन्य कुछ न चाहो। संसार में अपना कुछ भी न मानो। प्रीति के बिखरे हुए धागों को समेटकर एक प्रियतम से ही जोड़ दो। अपने प्रेमपात्र के ऐश्वर्य, माधुर्य, सौंदर्य का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त करो। प्रियतम के बिना और कहीं भी चैन न लो। प्रेमास्पद की दया, कृपा

का मनन-चिन्तन करते रहो। यही सब प्रेम की पूर्णता के उपाय हैं। प्रेम की अपूर्णता रहने तक जीव भोगी रहता है। प्रेम की पूर्णता होने पर ही जीव योगीह ोताह ै।स भीप्ाणीइ सस ंसारम ेंप्ेमक रनाअ नजानद शाम ें सीखते जा रहे हैं। जो कोई संसार में निष्काम प्रेम करना सीख लेता है, वही पूर्ण परमात्मा से प्रेम कर पाता है। प्रेम की पूर्णता में ग्लानि, घृणा, भेदभाव, हिंसा आदि कोई भी विकार रह ही नहीं जाते।

जीवन की पूर्णता

विनाशी पदाथो से असंगता प्राप्त करो। देह के जन्म को अपना जन्म और उसकी मृत्यु में अपनी मृत्यु न मानो। अविनाशी आत्मा तथा परमात्मा से अपनी जातीय एकता और देहादिक वस्तुओं से माना हुआ सम्बन्ध समझो। जिससे माना हुआ सम्बन्ध है उसके रागी न बनो, जिससे जातीय एकता है उसी के अनुरागी बनो।

विनाशी से सम्बन्ध तोड़ लेने पर अविनाशी को देखने और उसी से सम्बन्ध जोड़ लेने से अविनाशी जीवन का अनुभव होगा।

जो देह तक जीवन देख पाते हैं, उन्हीं को अपना जीवन अपूर्ण प्रतीत होता है। जो अविनाशी आत्मा तक देखते हैं, अपने को उसी आत्मा से अभिन्न कर लेते हैं, उन्हीं का जीवन पूर्ण होता है। वे आत्मा के साथ जीते हैं। उन्हें देह के साथ कभी नहीं मरना होता। यही पूर्ण जीवन है।

आनन्द की पूर्णता

सुख-दुःख की सीमा को पार कर जाने पर आनन्द पूर्ण होता है। आनन्द से ही सब कुछ की उत्पत्ति, आनन्द में ही सबकी स्थिति और आनन्द में ही सब की लीनता देखने से आनन्द की पूर्णता का अनुभव होता है।

सुख का अन्त निश्चय दुःख देखकर सुख से विरक्त होने पर आनन्द का दर्शन होता है। संसार से निराश होकर और संसार से माना हुआ सम्बन्ध मन ही मन तोड़कर, परमात्मा में ही सब प्रकार से निर्भर होने पर आनन्द की पूर्णता का बोध होता है। आस्तिक ही पूर्णानन्द का अनुभव कर पाता है।

पूर्ण पुरुषार्थी कौन है?

अपने-आप आये हुए सुख को जो दुखियों की सेवा में लगाता है, वह पुरुषार्थी पुरुष है। अपने-आप आये हुए दुःख की अवस्था में जो सुख की चाह का त्याग करता है वह पुरुषार्थी पुरुष है।

संसार में सुख, ऐश्वर्य तथा भोग-सामग्री पाकर, जो कहीं आसक्त

नहीं होता, वह पुरुषार्थी पुरुष है। जो अपना मूल्य किसी वस्तु या व्यकित के आगे नहीं घटाता वह भी पुरुषार्थी पुरुष है। जो परम प्रभु के समर्पित होकर प्रतिकूल परिस्थिति में भी सदा निर्भय एवं निश्चिन्त रहता है वह पुरुषार्थी पुरुष है।

जो अपनी भूलों को, दोषों को दूर किये बिना कहीं चैन नहीं लेता वह भी पुरुषार्थी पुरुष है। जो राग-द्वेष को त्याग और प्रेम के द्वारा दूर कर लेता है वह भी पुरुषार्थी पुरुष है। अपमानित होकर जो मौन रहता है, बुराई के बदले जो भलाई करने का अवसर खोजता है वह भी पुरुषार्थी पुरुष है।

पूर्ण विराग, पूर्ण निरोध, संस्कारों का शमन, चित्त के दोषों का त्याग, तृष्णा का क्षय– यह पूर्ण पुरुषार्थी में ही देखा जाता है।

संसार में धर्म को जानकर धर्मपूर्वक धन के योग से कामनाओं को मर्यादा पूर्वक भोगकर जो अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है, वह पुरुषार्थी पुरुष है।

देहाभिमान से पर उठकर, आत्मज्ञान प्राप्त करके जो कामनाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है वह पुरुषार्थी पुरुष है। जो संसार से कुछ न चाहते हुए संसार के काम आता है और भगवान से कुछ न चाहते हुए जो भगवान का हो जाता है वह पुरुषार्थी पुरुष है।

भक्ति की पूर्णता में सहायक

१ शुद्ध बुद्धि २ एकान्त और शुद्ध देश में निवास ३ धारणा एवं ध्यानाभ्यास ४ स्वल्प भोजन ५ शरीर तथा इन्द्रियों में स्वाधिकार ६ दृढ़ वैराग्य ७ स्ववश अन्तःकरण ८ विषयों से विरक्ति ९ राग, द्वेष का त्याग १० अहंकार, अभिमान, काम, ोध, लोभादि विकारों से मुक्त चित्त ११ संग्रह का त्याग १२ ममता का त्याग १३ शान्त अन्तःकरण १४ परमात्मा का चिन्तन १५ सहज प्रसन्नता १६ शोक सन्तापरहित मन १७ आकांक्षा का अभाव १८ प्राणियों के प्रति समभाव। यह सब भक्ति की पूर्णता में सहायक हैं, इसके विरुद्ध चेष्टा या अवस्था भक्ति में बाधक हैं।

मन का निरोध कैसे हो सकता है

१ आगे पीछे का व्यर्थ मनन-चिन्तन छोड़ने से। २ वासनाओं के त्याग से ३ जैसी भी परिस्थिति हो उसका सदुपयोग करने से ४ एक समय में एक ही कार्य मन लगाकर करन ेसे ५ कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा लेने से ६ कार्य के समाप्त होने पर उससे सम्बन्ा तोड़ लेने

देहाभिमान, जात्याभिमान आदि को ही स्वाभिमान समझते हैं ।

साधारण बातों में जो छुई-मुई की भाँति मुरझा जाता है — यह मन का ओछापन, हलकापन है, तुनुकमिजाजी है। बहुत बातें करना, दूसरों की दृष्टि अपनी बातों पर कैसी पड़ रही है — इसका ध्यान न रखकर बोलना दय के बहुत अधिक रिक्त खाली होने का परिचय है। आँखों की दृष्टि इधर-उधर दौड़ते रहना चंचलता का परिचय है।

बोलना बहुत कम और सुनते हुए विचार करना, दूसरों के अट्हास का मुस्कराहट से समर्थन करना गम्भीरता का परिचय है।

प्रतिकूल परिस्थिति में तथा विपत्ति में धैर्यपूर्वक निर्भय तथा निश्चिंत रहकर अपना कर्तव्य पालन करते रहना आस्तिक बुद्धि का परिचय है।

जिसके संग से अनेकों कष्ट भोगने पड़ते हों, फिर भी उसे छोड़ना कठिन दीखता हो— यही मोह है।

जिसकेभ ोगस`द ुर्बलतात थार ोग-दुःखब ढ़तेज ातेह ों,ि फिरभ ी जिसकात यागन ह ोस के—य हीि वषयासक्तिह ै।अ पनेि प्रयतमि जस स्थिति में रखना चाहें उसी में सन्तुष्ट रहना— उनके प्रति सच्ची प्रीति है।

सच्चे सेवक बनो!

जिसका शरीर परिश्रमी नहीं है, आलसी है, वह सेवा नहीं कर सकता। जो सेवक बनकर स्वामी की आज्ञा लिए बिना अपनी रुचि के अनुसार कार्य करता है, वह भी सेवा नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति अपने स्वामी के सामने अच्छा काम करता है, परन्तु उनके पीठ-पीछे काम को टालता है, वह भी कपटी सेवक है। स्वामी से दुराव-छिपाव रखने वाला शुद्ध सेवा नहीं कर पाता।

जो स्वामी की सेवा का व्रत लेकर अपने दय में किसी अन्य से प्रीति करता है, किसी अन्य के प्यार की इच्छा करता है, उसे भी सच्चा सेवक या सेविका नहीं कह सकते।

जोस`वाक रतेह ुएअ पनीरु चिप ूर्तिक ाप क्षल`ताह ै,स् वामीक ो संकोच में डालता है, हठ करता है, वह भी उलटे अपनी सेवा लेता है, अपने मन की पूर्ति कराता है।

सेवक होकर जो राग, द्वेष, लोभ, अभिमान को नहीं छोड़ पाता वह भी सेवा नहीं कर सकता।

जो अपनी प्रसन्नता के लिए स्वामी के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की, स्थान की, परिस्थिति की तरस रखता है, वह भी स्वामी के प्रति अनन्य भाव से प्रीति करनेवाला सेवक नहीं माना जा सका।

जोस् वामीक`अ तिरिक्तअ न्यि किसीक`अ ागेद ीनह ोताह ै,क हीं

से ७ व्यर्थ कायो तथा चेष्टाओं एवं व्यर्थ वाद-विवाद के त्याग से। ८ अपने प्रेमपात्र की सेवा में संलग्न रहने से। ९ भगवान के नामरूप लीलाओं से प्रेम होने से। १० संसार से निराश हो जाने से। ११ सुरतियोग से— यह सभी मन के विरोध में सहायक हैं।

किसी वस्तु या व्यक्ति को अपना मानने से सम्बन्ध होता है, और जो कुछ अपना मान लिया है उसका मनन करने से स्वभाव बनता है। मन की चंचलता को न रोकने से स्वच्छन्द विषय संयोग से, मलिन वृत्ति उत्पन्न होती रहती है।

मानव स्वयं अपना निर्माता अपने को बनाने वाला है, इसलिये चित्त कोज हाँ-तहाँत ुच्छप दाथोम`ेक भीव यर्थभ ्रमणन क रनेद`नाच ाहिए; क्योंकि इससे क्षुद्र चित्र बनते हैं, वही अपने जीवन को घेरने वाले होते हैं। मन के एक संकल्प से दूसरे संकल्प का वेग और बल बढ़ता है; इसीलिये अशुद्ध संकल्प को हठपूर्वक रोकना चाहिये। राग, द्वेष, प्रमाद और असाव ाानी से मन में अधिक संकल्प उठते हैं। वासना के साथ ही मन का जन्म होता है। वासना का समूह ही मन हैं मन की रुचिपूर्ति करते रहना ही भोग है, दूसरे के मन की पूर्ति करना सेवा है। अपने मन की पूर्ति न होने पर सन्तुष्ट, शान्त रहना तप है। अपने मन की पूर्ति न चाहते हुए प्रसन्न रहना त्याग है। अपना मन भवगान को दे देना भक्ति है। मन को मिटा देना अथवा चाह से रहित हो जाना मुक्ति है।

महापुरुष मन की कामना को ज्ञान, विवेक से त्याग देते हैं। संयमी विद्वान पुरुष कामना को तपके द्वारा नष्ट करते हैं। धर्मात्मा मानव धर्मपूर्वक कामना की मर्यादा के भीतर पूर्ति कर लेते हैं। पुनः आगे तप और त्याग के बल से कामना से मुक्ति पाते हैं।

धर्म-विमुख प्राणी कामना की पूर्ति करते-करते अनेकों जन्म धारण करते रहते हैं।

संसार में जितना भी सुख है वह मन के एकाग्र होने पर ही प्रतीत होता है।

मन का जड़मय होना ही बन्धन है। मन का भगवानमय होना ही, अर्थात् चित्त का चिन्मय होना ही योग की सिद्धि है।

जिसका मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के, पंचविषयों में रत है उसी को प्रपंची कहते हैं।

जिसका मन परमात्मा को अर्थात् भगवान् को भूल रहा है उसी को प्रमत्त कहते हैं।

अपनेप वित्रभ ावोंक ोस द्गुणोंक ो,ि किसीक`अ नुचितप ्रहारोंस` बचाते हुए गम्भीर, शान्त रहना, यह स्वाभिमान है कुछ लोग भ्रमवश

अभिमानी बनता है, तो वह भी अभी सेवाय नहीं हो सका।

अपनी सेवा के बदले में धन, मान अधिकार चाहने वाला व्यक्ति भी सच्चा सेवक नहीं होता।

किस समय किस प्रकार की सेवा से स्वामी प्रसन्न होंगे—जो इतना विवेक नहीं रखता, वह भी अभी सेवक योग्य नहीं है।

जिसमें तप की शक्ति नहीं, त्याग का अधिकार नहीं, वह भी सेवा में सफल नहीं हो सकता।

नहिं ममता नहिं कामना, नहीं संग-अभिमान।
विनय त्याग भरपूर हिय, सो सेवक मतिमान।।

सेवा करने के लिए योग्यता तथा शारीरिक बल, और सेवा के योग्य स्वामी कौन है—यह पहले ही समझ लो।

स्वामी की आज्ञा पालन में ही अपना हित समझो।

स्वामी की समयानुसार रुचि का ज्ञान प्राप्त करो, विवेकी बनो।

जो कुछ समझ में न आये वह स्वामी से ही उनकी सेवा की विधि जान लो।

स्वामी के अतिरिक्त अपनी प्रीति का भाग कहीं न बांटो; केवल अपने स्वामी से ही पूर्ण प्रीति करो।

प्रीति की पूर्णता में तथा सेवा की पूर्णता में अपना परम हित समझो। दोष की निवृत्ति, गुणों का विकास तथा भाव की पवित्रता अधिक बढ़ जाने पर ही हित निश्चित है। सेवा करते हुए जहाँ-कहीं प्रतिकूलता का दुःख हो, कोई भी कष्ट हो, उसे धैर्यपूर्वक सह लो।

तुम्हारी सेवा को कोई देखे या उसे जान ले— ऐसी इच्छा ही न रक्खो; क्योंकि ऐसी चाह मान और नाम चाहनेवाले अभिमानी में होती है, सच्चे सेवक में नहीं।

अपने में जो गुण, विशेषता, सुन्दरता या योग्यता देखो, उसे अपना न मानकर सर्वसमर्थ दाता से मिला हुआ जानो।

स्वामी कौन है?

वास्तव में स्वामी वही है जो हमारी सभी प्रकार की अपूर्णता को पूर्ण करने का सामर्थ्य रखता हो।

स्वामी वही है जो बिना माँगे ही हमारी पूर्ति करता रहता हो। स्वामी वही है जिसमें किसी प्रकार की दुर्बलता न हो। जब हम अपनी देह को देखें, तो देह का स्वामी कौन है? यह जानना आवश्यक है और जब संसार को देखें, तब संसार का स्वामी कौन है? इसे भी समझना आवश्यक है। देह के स्वामी को जानकर हम मुक्त हो सकते हैं। संसार के स्वामी को

जानकर उसके उपासक होकर हम भक्त हो सकते हैं।

वस्तुतः देह और संसार में दो स्वामी नहीं हैं, वरन् संसार के स्वामी को हम परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, और उसी स्वामी को जब देह में देखते हैं, तब सत्चित् स्वरूप आत्मा नाम से उसका अनुभव कर सकते हैं।

सच्चे सेवक को देह में आत्मा से विमुख नहीं होना है और संसार में परमात्मा को कहीं नहीं भूलना है। इसी आत्मा एवं परमात्मा के बातें व्यष्टि एवंस मष्टिक`क ामअ ातेर हनाह ीउ सकीस`वाह`` ।य हस`वाअ ात्मा-परमात्मा के लिये नहीं है, बल्कि अपने ही हित के लिये, अपने कल्याण के लिए एवं अन्तःकरण की शुद्धि के लिये है।

प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा-परमात्मा के गुणों को पहिचानकर उन गुणों की उपासना तथा सेवा करना है।

आत्मिक गुणों की पहिचान के अनुसार सेवा के पात्र

१ सब का हित चाहनेवाले विरक्त, ज्ञानी महापुरुष, तपस्वी, विद्वान, यज्ञकर्ता ब्रा मण २ ईश्वरोपासक भक्त ३ समाज-सेवक ४ परिवार के माता पिता, भ्राता आदि गुरुजन वयोवृद्ध, यही सब सेवा के पात्र हैं; क्योंकि इन्हीं सब में अपने स्वामी के गुण, सौन्दर्य, ज्ञान एंव प्रेम का दर्शन मिलता है।

जहाँ-कहीं आनन्द है, प्रेम है, सद्ज्ञान है, त्याग है, शक्ति है — समझ लो वही अपने स्वामी का ही व्यक्त रूप है।

सहायता के पात्र

१ श्रमित २ अतिथि ३ अभाव पीड़ित दुखी ४ शक्तिहीन ५ शिशु बालक ६ विद्यार्थी ७ वृद्ध ८ रोगी ६ विपद्ग्रस्त — यही सब सहायता के पात्र हैं। इन्हें धन न देकर इनकी आवश्यकता पूरी कर देनी चाहिये।

कर्तव्यपरायण व्यक्ति के लक्षण

धन के लिए स्वधर्म से विचलित नहीं होता। कठोर बचन सुनकर ोध नहीं करता। अपमान से क्षोभित नहीं होता। लोभवश नीति न्याय का त्याग नहीं करता। दुःख में धीरज तथा उद्यम नहीं छोड़ता। भगवान् के विधान में विश्वास रखता है। सनतुष्ट रहता है।

कर्तव्यपरायण व्यक्ति शक्तिशाली, सबल इसलिए होता है। १ क्योंकि वह परमेश्वर पर विश्वास रखता है। २ स्वधर्म से अटूट प्रीतिवाला होता है। ३ गुरुज्ञान के अनुसार व्यवहार करता है। ४ सब का हित चाहता है। ५ इन्द्रियों को मर्यादा के बाहर कोई चेष्टा नहीं करने देता।

है, किसी आत्मज्ञानी में ही देखी जाती है। १७ परमात्मा के प्रति पूर्ण अपनत्व का भाव अथवा अभिन्नता का बोध भी दुर्लभ है, प्रेमी में ही हो पाता है। यह १७ विशेष गुणधर्म में संसार में दुर्लभ है। जिस किसी में यह देखे जाते हैं वही महापुरुष हैं।

प्रभु कृपा महान है।

जहाँ सुलभ सत्य संग अहं निरभिमान है
जो किसी विपत्ति में न धैर्य छोड़ता कभी
जो स्वधर्म कर्म से मुख न मोड़ता कभी
शक्ति सदुपयोग का जहाँ कि सतत ध्यान है।। प्रभु कृपा..।।

जगत में अप्राप्त वस्तु की न चाह हो जहाँ
ईर्ष्या विरोध क्रोध की न राह हो जहाँ
मुक्ति भक्ति के लिये जिसे कि आत्म ज्ञान है।। प्रभु कृपा..।।

जो असंग रह सके जिसे न क्षोभ हो कहीं
जन धन अधिकार भोग का न लोभ हो कहीं
जब कि शत्रु मित्र लाभ हानि में समान है।। प्रभु कृपा..।।

शान्ति दीखती जिसे सकल विकार त्याग में
रहे कर्म व्यस्त पर फंसे न चित्त राग में
जो कि प्राप्त भोग में सतर्क सावधान है।। प्रभु कृपा..।।

जब वियोग का न भय संयोग की न दासता
दृष्टिगत जिसे सुखैश्वर्य तुच्छ भासता
वही कृपा पात्र श्रेष्ठ परम भाग्यवान् है।। प्रभु कृपा..।।

पतित पावनी समर्थ कष्ट नाशनी कृपा
दुःख में छिपी अनन्त सुख प्रकाशिनी कृपा

६ मन में भी संयम रखता है। ७ व्यर्थ चिन्तन नहीं करता। ८ जिस भूल को जान लेता है उसे फिर नहीं होने देता। ९ समय का तथा शक्ति का सदुपयोग करता है। १० कुसंग में नहीं जाता। दोषों का त्याग करता है। ११ परमात्मा को ही अपना मानता है और संसार में सब कुछ उसी से मिला हुआ जानता है।

कर्तव्यपरायण व्यक्ति में अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्र मचर्य, संग्रह न करना, यह पांच प्रकार के यम की पूर्णता मिलती है। पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर की शरण तथा स्मरण एवं चिन्तन यह पांच प्रकार के नियम की पूर्णता मिलती है।

सत्तरह दुर्लभ विशेषतायें

१ मनुष्यता विवेकपूर्वक सर्वहितकारी प्रवृत्ति को मनुष्यता कहते हैं कहीं-कहीं पाई जाती है। २ बन्धनों से, दुखों से, छूटने की इच्छा भी दुर्लभ है। ३ महापुण्य का योग दान एवं कल्याणकारी शुभ कमो के लिये दैवी ग्रहों की अनुकूलता भी दुर्लभ है। ४ सन्त महापुरुषों का संग एवं श्रद्धा दुर्लभ है। ५ विचार-प्रधान तीक्ष्ण बुद्धि किसी-किसी में होती है। ६ तीव्र वैराग्य सांसारिक भोगों में मन न लगना दुर्लभ है। ७ गर्वरहित तत्व-ज्ञान जितना ज्ञान बढ़ता जाये उतनी ही नम्रता आती आये यह भी दुर्लभ है। ८ कामनारहित प्रीति तथा मान का दान भी दुर्लभ है। ९ परमात्मा का सहज निरन्तर स्मरण जिस प्रकार शरीर के नाम का, जाति का, परिवार का निरन्तर स्मरण रहता है, कभी भूलता नहीं; उसी प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध कास् मरणर हे भ ीद ुर्लभहैं। १० अ भिमानत था ोधरहितत प सेवा करते हुए अथवा स्वधर्म पालन में कष्ट सहने को तप कहते हैं दुर्लभ हैं ११ जिसमें दूसरों के सुख का ही नहीं, वरन सर्व के हित का ध्यान रहता है – वह सर्वहितकारी प्रवृत्ति भी दुर्लभ है। १२ जिसके बदले में धन की चाह न हो, भोग की चाह न हो और मान की चाह न हो, ऐसी निष्काम सेवा भी दुर्लभ है। १३ नम्रतापूर्वक कर्तव्यभावना के साथ दान भी दुर्लभ है। १४ शक्ति के रहते हुए अपना अनादर करने के प्रति शूरवीर के जीवन में क्षमावृत्ति का होना भी दुर्लभ है। १५ दूसरों की पूर्ति करते रहना, अपने लिए कुछ न चाहना, ऐसी उदारता भी किसी-किसी में पाई जाती है दुर्लभ है। १६ शरीर में, परिवार में रहते हुए अपना कुछ भी न मानना ऐसी असंगता भी दुर्लभ